लर्निंग कर्व

हिन्दी अंक 4 : सितम्बर, 2012

Azim Premji Foundation

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की पत्रिका
(केवल निजी प्रसार के लिए)

विशेष अंक

स्कूल नेतृत्व

इस अंक में

- शैक्षणिक नेतृत्व का निर्माण और दायरा
- स्कूल-प्रधान : शैक्षणिक विद्वान या प्रशासक?
- भारत में स्कूल नेतृत्व की दिशा
- स्कूल नेतृत्व की चार चुनौतियाँ
- व्यक्तिगत अनुभव.....और भी बहुत कुछ

लर्निंग कर्व

स्कूल नेतृत्व

हिन्दी अंक 4 : सितम्बर,2012

(लर्निंग कर्व–स्पेशल इश्यू: स्कूल लीडरशिप (अँग्रेजी) XVI मार्च, 2011 का हिन्दी अनुवाद)

सम्पादकीय टीम

हृदयकांत दीवान, जयश्री मिश्रा, नीरजा राघवन, निधि तिवारी,
एस. गिरिधर, स्वाति चन्दा

अँग्रेजी से हिन्दी अनुवाद

सत्येन्द्र त्रिपाठी, भरत त्रिपाठी

हिन्दी अंक सम्पादन

राजेश उत्साही, रमणीक मोहन

मूल डिजायन

Adroit Human Creative Services Pvt. Ltd.
Banglore

हिन्दी अंक डिजायन

बिजेन्द्र प्रसाद बलोनी

मुद्रक

प्रगति प्रिन्टर्स
बंगलौर 560 103

टिप्पणी : इस अंक में प्रकाशित लेख मूलतः लर्निंग कर्व (अँग्रेजी) XVI मार्च,2011 में प्रकाशित लेखों का अनुवाद हैं। लेखों में व्यक्त विचार तथा मत लेखकों के अपने हैं। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादक की ओर से

लर्निंग कर्व के इस अंक के लिए हमारा विषय है ''स्कूल का नेतृत्व''। जब हमने सर्वप्रथम इस अंक के विषय के अवधारणात्मक स्वरूप पर विचार करना शुरू किया तो हमने सोचा था कि हम शैक्षणिक नेतृत्व और प्रबन्धन के सम्पूर्ण विषय का अन्वेषण करेंगे। पर चर्चाओं के दो दौर के बाद ही हमें यह अहसास हो गया कि हम इस विषय के साथ तभी न्याय कर पाएँगे जब हम इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के किसी एक पहलू को लें और फिर उस पर गहराई से विमर्श करें। तो इस प्रकार यह अंक स्कूल–नेतृत्व के विविध पहलुओं पर किए जाने वाले विमर्श पर ही केन्द्रित किया गया है।

''शिष्यों पर कक्षा में होने वाले अध्यापन के बाद सबसे ज्यादा असर स्कूल के नेतृत्व का ही पड़ता है।'' कोई इस बात में शंका नहीं करेगा। इसलिए यह अजीब और निराशाजनक लगता है कि हमारे पास लाखों स्कूलों के लिए प्रमुखों को चुनने, उन्हें प्रशिक्षित करने, मार्गदर्शन देने और उनका निरन्तर विकास करने की कोई उचित व्यवस्था नहीं है। जब भी इस पर चर्चा होती है कि ''भारतीय शिक्षा में सुधार के लिए किन मुद्दों पर सबसे ज्यादा ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है'', तो स्कूल में नेतृत्व का मुद्दा बहुत ऊपर रहता है। जहाँ एक ओर शैक्षणिक सहयोग प्रदान करने वाली व्यवस्था को मजबूत बनाए जाने की बेहद जरूरत है तो दूसरी ओर उतनी ही जबरदस्त जरूरत हमारे स्कूलों और शैक्षणिक प्रशासन में नेतृत्व की गुणवत्ता को बढ़ाने की है। इस सम्बन्ध में शिक्षा–नीति निर्माताओं और प्रशासकों का कुछ ठोस संगठित कार्यवाही करना बहुत आवश्यक है।

इस विषय पर अपने विचार देने के लिए हमने कई विशेषज्ञों से बात की। एक बार फिर हम उन मित्रों के आभारी हैं जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ इस अंक के लिए लेख लिखे। इसके अलावा मुझे हार्डी (डॉ. हृदयकांत दीवान) का विशेष उल्लेख करना पड़ेगा। हमारे पिछले सभी अंकों के लिए उन्होंने अपना समय दिया और उनके सुझाव बहुत लाभप्रद साबित हुए। इस बार भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने खुद इस अंक हेतु लिखने का प्रस्ताव रखा, विषय–प्रसंगों को तय करने के बारे में अपने तर्क दिए तथा कुछ अन्य लेखकों से सम्पर्क स्थापित करने में हमारी मदद की। बल्कि वह तूफानी बैठक, जिसमें हमने इस अंक के विषय को ''शिक्षातंत्र में नेतृत्व'' से बदलकर ''स्कूल का नेतृत्व'' किया था, हार्डी के जोशीले तर्कों के लिए याद रहेगी!

यहाँ मैं साठ के दशक के अन्तिम वर्षों के दौरान अपने स्कूल के प्राचार्य की याद किए बिना नहीं रह पा रहा हूँ। हमारा स्कूल सेना के लिए बने बैरकों में लगता था। वहाँ मामूली सुविधाएँ ही थीं। पर समूचे स्कूल में एक गूँजती–सी ऊर्जा बनी रहती थी जिसके स्रोत थे हमारे प्राचार्य। जब ऑस्ट्रेलियाई क्रिकेट टीम ने हमारे शहर में एक मैच खेला, तो हमारे प्राचार्य ने मिडिल स्कूल और हाईस्कूल के सारे बच्चों के लिए मैच के सीजनल टिकिट बहुत सस्ते दामों पर उपलब्ध करा दिए थे। जब राष्ट्रपति चुनाव हुए तो उन्होंने अपने कार्यालय के बाहर एक ''स्कोर बोर्ड'' लगा दिया था। उससे हमें लगातार हर वह छोटी से छोटी जानकारी मिल रही थी जिससे पता चल रहा था कि वी.वी. गिरि ने संजीव रेड्डी के ऊपर अजेय बढ़त बना ली है। जब नील आर्मस्ट्रॉग ने चाँद पर कदम रखा, तो उन्होंने किसी विज्ञान संस्थान से एक वैज्ञानिक को बुलाया। उसने इस पूरी घटना के बारे में बच्चों के समक्ष बिलकुल अद्भुत वर्णन पेश करके उन्हें मंत्रमुग्ध कर दिया। जब वार्षिक–दिवस उत्सव की तैयारियाँ शुरू होती थीं तो अकसर ही कार्यक्रम की समय सारिणी का कोई मतलब नहीं रह जाता था। वे इस बात पर अडिग रहते थे कि प्रत्येक बच्चे को मंच पर कम से कम एक मिनिट तो मिलना ही चाहिए। और वे जोखिम ले सकते थे, बिलकुल एक जुआरी की तरह! जब उन्होंने मुझे कुछ अभिनेताओं की नकल करते सुना, तो उन्होंने मुझे एकल–अभिनय प्रतिस्पर्धा के लिए भेज दिया। वहाँ मुझे फिल्मी नायकों और खलनायकों की आवाजों और आदतों की नकल प्रस्तुत करना थी। बुनियादी रूप से, मुझे लगता है स्कूल का प्राचार्य होना उनके लिए बड़ी मस्ती और रोमांच से भरा काम था!

हमें इस अंक को बनाने में और आपके समक्ष लेखों की इतनी समृद्ध शृंखला रखने में बहुत संतोष का अनुभव हुआ है। हमें जरूर बताइएगा कि हम आपकी अपेक्षाओं पर खरे उतरे या नहीं। आपकी प्रतिक्रियाओं से हमें आगे आने वाले अंकों में लगातार सुधार करते रहने में मदद मिलती है।

एस. गिरिधर
प्रमुख – विश्वविद्यालय संसाधन केन्द्र

विषय सूची

खण्ड अ : व्यापक मुद्दे

शैक्षणिक नेतृत्व का निर्माण और दायरा 7
– सुनील बत्रा

स्कूल नेतृत्व का सन्दर्भ 13
– हृदयकांत दीवान एवं प्रीति मिश्रा

स्कूल–प्रधान : शैक्षणिक विद्वान या प्रशासक? 20
– गुरुमूर्ति काशीनाथ

स्कूल एवं नेतृत्व : एक समीक्षात्मक दृष्टि 25
– वेणु एन.

प्रधानाध्यापक और स्कूली शिक्षा व्यवस्था 28
– रश्मि शर्मा

सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था का रूपान्तरण 31
– मोना मुर्शेद, रमेश मंगलेश्वरन, राम्या वैंकटरमन

प्रबन्धन और सार्वजनिक व्यवस्थाएँ – शिक्षा : एक दशा–अध्ययन 36
–दिलीप रांजेकर

खण्ड ब : कुछ परिप्रेक्ष्य

स्कूल नेतृत्व पर कुछ विचार 39
–विमला रामचन्द्रन

स्कूल प्रशासन : मानवीयता और सजीवता के लिए 42
– जी. गौतम

स्कूलों में शैक्षणिक नेतृत्व के समर्थन में 47
– अनुष्टुप नायक

प्रधान–शिक्षक बनाम "लघु–सी.आर.सी." 50
– आदित्य नटराज

निजी, छोटे एवं प्रयोगधर्मी स्कूल नेतृत्व की चार चुनौतियाँ 54
– प्रिया अय्यर

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में स्कूल–नायक के रूप में प्रधानाध्यापक 58
– जगन्नाथ राव

स्कूल–प्रमुख की स्वायत्तता और जवाबदेही 62
– निवेदिता बेडदुर

स्कूल नेतृत्व : कृपया हमें मार्ग दिखाओ ! 66
– अमुक्ता महापात्र

सफल स्कूलों को अलग करने वाले कारक: लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम के निष्कर्ष 69
–डी. डी. करोपाडी एवं एस. गिरिधर

शिक्षा में संस्थागत संस्कृति : कर्नाटक के शैक्षणिक नेतृत्व विकास कार्यक्रम से कुछ सबक 74
– सुपर्णा दिवाकर

कुछ नहीं से कुछ होने तक : एक गाँव के प्राथमिक स्कूल के पालक समूह के साथ यात्रा 77
–उमाशंकर पेरियोडी

सामुदायिक भागीदारी और स्कूल नेतृत्व : ग्रामीण कर्नाटक में नम्मा शाले पहल से कुछ उदाहरण 80
– प्रदीप रामावत एवं रवीन्द्र प्रकाश

खण्ड स : निजी अनुभव

एक अच्छे स्कूल–प्रमुख की मेरी धारणा 84
–उर्मिला चौधरी

मेरा स्कूल–मेरा सपनाः स्कूल–प्रमुख की मेरी आदर्श छवि 86
– आयशा दास

आदर्श प्राचार्य 89
– जयन्ती जोसेफ

स्कूल प्रमुख के रूप में प्राचार्यः एक विद्यार्थी की दृष्टि से 91
– रजनी द्विवेदी

ऊँची कुर्सी, इतनी ऊँची 93
– नीरजा राघवन

अपनी प्रधानाध्यापिका को मेरी श्रद्धांजलि 95
– कल्याणी राजारमन

अनुभव : अध्यापन से प्रबन्धन तक 96
– रेणु श्रीनिवासन

खण्ड द : संसाधन किट

संसाधन किट 101

खण्ड अ

व्यापक मुद्दे

01 शैक्षणिक नेतृत्व का निर्माण और दायरा

सुनील बत्रा

''छात्रों के सीखने पर कक्षा में होने वाले शिक्षण के बाद सबसे अधिक प्रभाव स्कूल नेतृत्व का ही होता है।''

समूचे भारत के केवल कुछ सौ स्कूलों में ऐसे शिक्षक हैं जो बच्चों के सामने प्रासंगिक चुनौतियाँ रखते हैं, उन्हें प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करते हैं और उनके आने वाले वर्षों को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर उनके साथ संवाद करते हैं। इसी प्रकार कुछ अनुभवी अध्यापक हैं जो कक्षाओं में बहु–स्तरीय शिक्षण के लिए योजना बनाने में और स्कूल के संसाधनों का समुचित उपयोग करने में नए शिक्षकों का मार्गदर्शन करते हैं।

कई स्कूलों में ऐसे शिक्षक भी हैं जो हर सप्ताह छोटे–छोटे समूहों में विभागाध्यक्षों और स्कूल–प्रमुखों के साथ बैठकर बच्चों की प्रगति और पाठ्यक्रम से जुड़े मुद्दों पर स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित करते हैं।

ऊपर वर्णित बातें पारिस्थितिक सन्दर्भ से कटे हुए शून्य में नहीं घटतीं। सभी शिक्षक अपने परिवेश के सन्दर्भों (उपलब्ध कराए गए संसाधन और लोग, मिल रहे सहयोग की प्रकृति, संस्था की दूरदर्शी परिकल्पना या उसका अभाव, उपलब्ध प्रशिक्षण की विषयवस्तु, मिलने वाला मानदेय, पढ़ने,चिन्तन करने तथा वैचारिक आदान–प्रदान करने के अवसर) में कार्य करते हैं।

विचारवान व संवेदनशील शिक्षकों के हर समूह के पीछे कुछ ऐसे लोग होते हैं जो शिक्षकों की कक्षा को प्रभावित करने की क्षमता में विश्वास करते हैं। साथ ही जो शैक्षणिक प्रक्रियाओं तथा शिक्षा के नैतिक उद्देश्य सहित बच्चों के साथ सम्बन्ध जोड़ने में शिक्षकों को समर्थ बनाने के तरीके खोजते हैं।

> *निजी स्कूलों में, स्कूल–प्रमुख के पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड उसकी 'जनसम्पर्क' कुशलता को माना जाता है। जिसे स्कूल को एक लोकप्रिय उत्पाद की तरह आर्थिक और सामाजिक रूप से स्थापित करने की आवश्यकता के आधार पर नापा जाता है। शैक्षणिक रुचियाँ, विनम्रतापूर्ण नेतृत्व तथा एक विविधतापूर्ण पाठ्यक्रम को लागू करने की क्षमता जैसे मानदण्डों की न तो अपेक्षा की जाती है और न ही उन्हें मूल्यवान माना जाता है।*

वे शिक्षकों को सिर्फ प्रोत्साहित ही नहीं करते बल्कि उनके विचारों को भी पोषित करते हैं, मुद्दों की पहचान करते हैं, तनावों को सुलझाते हैं तथा उपयुक्त ढाँचों, पद्धतियों, विश्वासों, तैयारियों और क्षमताओं के निर्माण को सम्भव बनाते हैं। वे अपने सहज अन्तर्बोध और अनुभव के आधार पर 'शैक्षणिक नेतृत्व' प्रदान करते हैं। शैक्षणिक नेतृत्व का तात्पर्य चिन्तन–मनन, सैद्धान्तिक ढाँचों, अन्वेषण, संवाद, नियोजन तथा सहयोगी विद्वानों के बीच वैचारिक आदान–प्रदान के द्वारा ऐसे अनुभवों को विकसित करने और निखारने से है जिनका सम्बन्ध शैक्षणिक संस्थाओं, लोगों, तंत्रों, सहायक–संस्थाओं का नेतृत्व करने और संस्थाओं की आन्तरिक एवं उनके बीच की अन्तर्व्यवस्थाओं के प्रबन्धन से होता है।

दुर्भाग्य से, भारत के अधिकांश शासकीय और निजी, ग्रामीण और शहरी स्कूलों के शिक्षकों पर स्कूल के भीतर और बाहर पड़ने वाले प्रभावों को शायद ही कोई पेशेवर ज्ञान से परिपूर्ण तथा पोषण और सहयोग देने वाला कह सकता है। भारत के साढ़े दस लाख से भी अधिक स्कूलों में से 60 प्रतिशत प्राथमिक स्कूलों में सिर्फ दो या तीन शिक्षक हैं, और इसलिए उनमें न तो स्कूल–प्रमुख का आधिकारिक पद होता है और न ही उनमें श्रेष्ठ शिक्षा के लिए नेतृत्व विकसित करने का कोई रुझान होता है। सरकार केवल ऐसे स्कूलों में स्कूल प्रमुख का पद प्रदान करती है जिनमें पाँच या अधिक शिक्षक हों। जहाँ स्कूल–प्रमुख के पद का प्रावधान होता भी है तो वहाँ नेतृत्व या प्रबन्धन के किसी प्रशिक्षण के बिना ही उसे नियुक्ति की तिथि के आधार पर सबसे वरिष्ठ शिक्षक द्वारा भर दिया जाता है। अकसर तो नौकरशाही या राजनीतिक अड़ंगों के चलते स्कूल–प्रमुख का पद भरा ही नहीं जाता।

निजी स्कूलों में, स्कूल–प्रमुख के पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड उसकी 'जनसम्पर्क' कुशलता को माना जाता है। जिसे स्कूल को एक लोकप्रिय उत्पाद की तरह आर्थिक और सामाजिक रूप से स्थापित करने की आवश्यकता के आधार पर नापा जाता है। शैक्षणिक रुचियाँ, विनम्रतापूर्ण नेतृत्व तथा एक विविधतापूर्ण पाठ्यक्रम को लागू करने की क्षमता जैसे मानदण्डों की न तो अपेक्षा की जाती है और न ही उन्हें मूल्यवान माना जाता है। परिणामस्वरूप अधिकांश स्कूलों में शैक्षणिक नेतृत्व, शिक्षकों के विकास में सहयोग, पाठ्यक्रम को अमल में लाने और संगठनात्मक प्रबन्धन के बारे में बुनियादी धारणाएँ भी नदारद रहती हैं।

ब्लॉक या जिले के स्तर पर शैक्षणिक नेतृत्व की प्रकृति पारम्परिक रूप से प्रशासनिक मानी जाती है। जिसमें शिक्षकीय मार्गदर्शन के विशिष्ट पेशेगत पहलुओं, नए शिक्षकों के प्रशिक्षण, प्रबन्धन, शिक्षकों और स्कूल–प्रमुखों के ज्ञान के विकास के बजाय आँकड़ों को दर्ज करने, समय–सारणियों के पालन, रिपोर्ट लिखने और परीक्षाओं को अधिक महत्व दिया जाता है। स्कूल की ऊपरी कक्षाओं में असफलताओं का कारण निचली कक्षाओं में 'खराब शिक्षण' को बताया जाता है। बच्चों की विकासात्मक आवश्यकताओं और स्कूली पाठ्यक्रम की रचना तथा उसके प्रबन्धन के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किए जाते। आमतौर पर स्कूल शिक्षकों, प्रमुखों और सहायक–संगठनों (सीआरसी, बीईओ, डीआईईटी आदि संस्थाओं) को संस्था की आन्तरिक भूमिका और विभिन्न संस्थाओं के अन्तर्सम्बन्धों की भूमिका का अहसास नहीं होता। वे समग्र रूप से योजना बनाने, तैयारी करने और सहयोगी गतिविधियों में परिवर्तन करने में शायद ही कभी समर्थ हो पाते हैं। स्कूल–प्रमुख से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पद पर रहते हुए ही नेतृत्व करना सीखे। लेकिन इसमें उसे लगभग कोई व्यवस्थित संस्थानिक सहयोग नहीं मिलता। इसलिए स्कूली वर्षों के पूरे दौर में पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं, शिक्षकों की तैयारी और शिक्षक–दल के विकास में बड़ी खामियाँ पाई जाती हैं।

स्कूल प्रमुख के पद के अस्पष्ट रूप से परिभाषित होने के साथ–साथ नेतृत्व के प्रशिक्षण के अभाव का निहितार्थ यह है कि स्कूलों में, संकीर्ण रूप से परिभाषित बोर्ड परीक्षा परिणामों के अलावा, जवाबदेही वाली व्यवस्थाएँ और कार्यप्रणालियाँ विकसित करने के कोई ढाँचागत और भरोसेमन्द तरीके नहीं हैं। शैक्षणिक नेतृत्व की पेशेवर कार्यप्रणालियों के बारे में सीखने के अवसरों के न होने का परिणाम यह हुआ है कि स्कूल प्रमुखों, शिक्षा–प्रशासकों, प्रबन्धकों और नीति–निर्माताओं के बीच के सम्बन्ध ठीक से परिभाषित नहीं हैं। एनयूईपीए और कुछ थोड़े से एसआईईएमएटीएस जैसे संगठनों के काम – जो ज्यादातर प्रशासनिक हैं – के सिवाय शैक्षणिक नेतृत्व के लिए संस्थाओं के स्तर पर बहुत ही सीमित और क्षीण प्रयास ही हुए हैं।

अध्ययनों से प्रकट होता है कि स्कूल प्रमुख किस तरह स्कूल में सीखने के वातावरण और विद्यार्थियों के शैक्षणिक परिणामों को प्रभावित करने में अन्य लोगों का नेतृत्व करते हैं। स्कूल के परिणामों को बेहतर बनाने में नेतृत्व प्रदान करने वालों का प्रभाव ज्यादातर परोक्ष रूप से होता है। स्कूल के वातावरण और युवा विद्यार्थियों के जीवन को बदलने में इसे दूसरा सबसे महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। अध्ययनों से यह भी स्थापित हुआ है कि 'नेता दूसरों के माध्यम से परिणाम हासिल करते हैं' और यही नेतृत्व का सारसूत्र है। (अर्ली एवं वींडलिंग 2004, लीथवुड 2004)।

शैक्षणिक नेतृत्व की सुपरिभाषित धारणाओं के न होने से नेतृत्व के अध्ययन और स्कूलों में प्रदान की जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता तथा उसके प्रभाव पर भारत में लगभग कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इसलिए शिक्षकों, पालकों, विद्यार्थियों, स्कूल–प्रमुख, समुदाय और शासकीय कर्मचारियों के बीच विकसित होने वाले सम्बन्धों के सन्दर्भ में संस्थागत विकास के बारे में ज्ञान निर्मित करने के लिए व्यवस्थित अवसर सुलभ करवाए जाने की जरूरत है। नेतृत्व के लिए करिश्माई नायकों या गतिशील स्वप्नदर्शियों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता। एक समाज के रूप में हमें शिक्षा में सक्रिय पहल करने वाले नेताओं का समुदाय विकसित करने में सहायक होना सीखना होगा।

पूछताछ, शोध, उच्चशिक्षा और सतत पेशेवर विकास कार्यक्रमों में प्रशिक्षण और पढ़ाई की पद्धति के तौर पर शैक्षणिक नेतृत्व को भारत में लगभग जाना ही नहीं जाता। यूरोप, यू.के., यू.एस.ए, ऑस्ट्रेलिया, चीन और सिंगापुर के कुछ भागों में प्रशासनिक और शैक्षणिक नेतृत्व के बारे में काफी कुछ लिखा गया है। पिछले कुछ दशकों में, प्रबन्धन और कॉर्पोरेट प्रशिक्षण के तरीकों ने प्रशासनिक और शैक्षणिक नेतृत्व के पाश्चात्य विमर्श को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया है। कॉर्पोरेट क्षेत्र और निजीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव के चलते कार्यक्षमता, नापे जा सकने वाले परिणामों, लक्ष्य–प्राप्ति और प्रबन्धन की धारणाओं ने विद्यार्थियों, शिक्षकों और संस्थाओं के उपलब्धि–स्तरों को आँकने के पारम्परिक तरीकों को बदल दिया है। सिर्फ परिणामों और कार्यक्षमता पर केन्द्रित दृष्टिकोण की व्यापक आलोचना के कारण पाश्चात्य जगत में सोचा–समझा बदलाव भी आया है जिसने शिक्षा के शैक्षणिक और मानवीय पहलुओं को केन्द्रीय महत्व दिया है। इसके फलस्वरूप, नेतृत्व में प्रशासन और प्रबन्धन के अलावा और भी बहुत कुछ समाहित रहता है। शिक्षण संस्थाओं में नेताओं से पढ़ाने–सीखने के तरीकों को सुदृढ़ बनाने की चुनौतियों को स्वीकार करने और शिक्षकों के विकास को निरन्तर सहयोग प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है। उनसे पेशेवर क्षमता बढ़ाने वाले ऐसे तरीकों को सीखने की अपेक्षा की जाती है जो पाठ्यक्रम विकास, दल–नेतृत्व, जवाबदेही और पर्यवेक्षण में सहायक होते हैं। जिस अपेक्षा की सबसे अधिक चर्चा होती है वह परिवर्तन को सुगम बनाना और उससे पैदा होने वाले बदलावों को कारगर तरीके से सम्भालना है। नेतृत्व प्रशिक्षण, संस्थानिक विकास और परिवर्तन को सुगम बनाने के सिलसिले में आमतौर पर 'रूपान्तरकारी नेतृत्व', 'साझा नेतृत्व', 'शैक्षणिक नेतृत्व' और 'विकेन्द्रित नेतृत्व' जैसी धारणाओं की चर्चा की जाती है (अर्ली एवं विंडलिंग 2004, फुलन 1995, हैरिस 2002)।

सीखने में सहायक शिक्षकों की भूमिका को सहयोग देने के पेशेवर तरीकों को सीखने में स्कूल–प्रमुखों और प्रशासकों को सक्षम बनाने में हमारी अड़चन क्या है? जाहिर तौर पर जहाँ इसका उत्तर सीखने की इच्छा और इसके संगठित अवसरों की सुविधा न होना है, वहीं गौर से छानबीन करने पर पता चलता है कि परिवर्तन में आने वाली रुकावटों की जड़ें हमारी सांस्कृतिक और संस्थानिक कार्यप्रणालियों में हैं। कार्यरत और सम्भावी शैक्षणिक नेताओं को गहनता और संवेदनशीलता के साथ अपनी भूमिकाएँ निभाने में जो प्रमुख बाधाएँ आती हैं उनके कारण हैं:

अ) निरीक्षक–राज की संस्कृति

ब) संस्थानिक दूरदृष्टि और सहयोग का अभाव

स) परीक्षा के लिए पढ़ाने का चलन

निरीक्षक राज की संस्कृति

शिक्षा का प्रशासनिक ढाँचा एक ऊर्ध्वमुखी जटिल पदानुक्रम में काम करता है। अधिकांश राज्यों के शिक्षा निदेशालय के अन्तर्गत आने वाले पदानुक्रम में जिला शिक्षा अधिकारी, सहायक जिला शिक्षा अधिकारी, ब्लॉक शिक्षा अधिकारी या कनिष्ठ सहायक निरीक्षक आते हैं। डीपीईपी तथा एसएसए के अन्तर्गत नियंत्रण का विकेन्द्रीकरण करने के लिए ब्लॉक स्तरीय स्रोत व्यक्तियों और क्लस्टर (संकुल)–स्तरीय स्रोत व्यक्तियों के लिए समानान्तर पद निर्मित किए गए। कुछ राज्यों और जिलों में भूमिकाओं और जिम्मेदारियों की दृष्टि से ब्लॉक शिक्षा अधिकारी और ब्लॉक स्तरीय स्रोत व्यक्तियों के पदों को आपस में मिला दिया गया और इसके चलते पुरानी और नई भूमिकाओं में भ्रम की स्थिति बनी रही।

प्राथमिक स्कूल ज्यादातर कनिष्ठ अधिकारियों की देखरेख में होते हैं जिन्हें 'सभी विषयों का जानकार' माना जाता है। जबकि माध्यमिक स्कूलों की देखरेख वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा की जाती है जिन्हें 'विशेष विषयों का विशेषज्ञ' कहा जाता है। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के लिए जिम्मेदार अधिकारियों के बीच समन्वयन के अभाव के कारण किसी समुदाय में स्थित स्कूलों की सेवाएँ सुधारने के लिए कोई संगठित प्रयास नहीं होते। प्राथमिक शिक्षा सबसे उपेक्षित रहती है क्योंकि बहुत कम प्राथमिक स्कूलों में प्रमुख के निर्धारित पद का प्रावधान होता है और 'निरीक्षक या ब्लॉक शिक्षा अधिकारी या ब्लॉक स्तरीय स्रोत व्यक्ति' से प्रारम्भिक वर्षों में दी जाने वाली शिक्षा की देखरेख करने के बारे में जानकार होने की अपेक्षा आवश्यक नहीं समझी जाती। दयनीय बुनियादी ढाँचे और बजट सहायता, तथा देखरेख किए जाने वाले स्कूलों की बड़ी संख्या के चलते, ब्लॉक शिक्षा अधिकारी शायद शिक्षातंत्र में सबसे अधिक काम का बोझ ढोने वाला व्यक्ति होता है। इसके अलावा स्कूल और निरीक्षण अधिकारी के सम्बन्ध का निर्धारण अभी भी अतीत की परिपाटियों से होता है

> *स्कूल के परिणामों को बेहतर बनाने में नेतृत्व प्रदान करने वालों का प्रभाव ज्यादातर परोक्ष रूप से होता है तथा स्कूल के वातावरण और युवा विद्यार्थियों के जीवन को बदलने में इसे दूसरा सबसे महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। अध्ययनों से यह भी स्थापित हुआ है कि 'नेता दूसरों के माध्यम से परिणाम हासिल करते हैं' और यही नेतृत्व का सारसूत्र है। (अर्ली एवं वींडलिंग 2004, लीथवुड 2004)।*

जो मुख्य रूप से उपस्थिति जाँचने और बोर्ड परीक्षाओं को अतिगोपनीयता से संचालित करने तक सीमित रहती हैं। आज भी जब स्कूलों से की जाने वाली अपेक्षाएँ और आशाएँ कई गुनी और कहीं अधिक जटिल हो गई हैं, निरीक्षण अधिकारी को एक सहयोगी देखरेख करने वाले की भूमिका में नहीं बदला गया है। परिणामस्वरूप स्कूलों की देखरेख या तो न के बराबर है या बिखरी हुई है।

एक कार्यपद्धति की तरह शैक्षणिक नेतृत्व भूमिकाओं के सुसंगतिकरण, शिक्षकों की सुलभता की विवेकपूर्ण व्यवस्थाओं, पर्याप्त वित्तीय प्रावधानों, प्रभावपूर्ण सम्प्रेषण के लिए प्रशिक्षण और विचारों को अमल में लाने के लिए आवश्यक विशिष्ट कौशलों के विकास के माध्यम से शिक्षकों और नीति–निर्माताओं की देखरेख और सहयोग के नए ढाँचे रचने में मदद कर सकता है।

संस्थानिक दूरदृष्टि का अभाव

कमजोर या शून्य देखरेख तथा ब्लॉक, संकुल (क्लस्टर) और स्कूल के स्तर पर संस्थानिक दूरदृष्टि के अभाव के चलते शिक्षा हमारे देश के सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्रों में से एक है। राज्य या केन्द्र सरकार के द्वारा संचालित कार्यक्रमों (ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड, एमएलएल, डीपीईपी और एसएसए) द्वारा दिए गए लक्ष्यों के अलावा स्कूल शायद ही कभी अपने किसी सपने की कल्पना करते हैं या उसको व्यक्त करते हैं। किसी समाज या समुदाय के विकास के नैतिक उद्देश्य को हासिल करने के किसी सपने या लक्ष्य के बिना काम करना शून्य में काम करने जैसा है। उदाहरण के लिए, अधिकांश स्कूली कार्यक्रमों और आयोजनों में कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के अभाव पर विचार करें। स्कूली जलसे लगभग हमेशा पुराने उत्सवों की नकल होते हैं और एक ऐसे बँधे–बँधाए मानक की अनुकृति होते हैं जो ब्लॉक या जिला–स्तरीय अधिकारियों द्वारा स्वीकार्य होता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश स्कूल प्रमुख और ब्लॉक शिक्षा अधिकारी अपनी भूमिकाओं

को सुरक्षित सरकारी नौकरियों की तरह निभाते हैं जहाँ नाममात्र का प्रयास ही काम का पूरा होना मान लिया जाता है। ऐसे में प्रतिभाशाली और समर्पित लोगों पर भी हताशा और कटुता हावी हो जाती है। व्यक्तिगत प्रशासनिक उद्देश्यों (तबादले, अवकाश प्रदान करना, तरक्की) के लिए तो सहयोग और मार्गदर्शन मिलता है परन्तु शैक्षणिक और सांस्कृतिक लक्ष्यों के लिए नहीं। कल्पनाशीलता और पहल, जो शिक्षा और सीखने के प्रामाणिक लक्षण हैं, को दरकिनार कर दिया जाता है।

दृष्टि का विकास तथा इस बारे में स्पष्टता कि जब हम पढ़ाते हैं तो क्या पढ़ाते हैं और क्यों पढ़ाते हैं, हमारे देश की सांस्कृतिक और स्कूलों की विविधता के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं (कुमार 1992)। भारत में स्कूली शिक्षा पर अध्यापन की व्यवहारवादी पद्धति का सबसे प्रबल प्रभाव पड़ा है। वहीं दूसरी ओर, एनसीएफ 2005 तथा कई गैर सरकारी संगठनों और कुछ विश्वविद्यालयीन विभागों द्वारा किए गए काम के महत्वपूर्ण प्रभाव सामने आए हैं। पर साथ ही साथ अनेक शिक्षकों के मन में अभी भी संघर्ष की स्थिति बनी रहती है जब वे एक ओर पारम्परिक और दूसरी ओर सदा बदलते हुए मूल्यों और सम्बन्धों के बीच सर्वत्र विद्यमान तनावों का सामना करते हैं। सरकारी और निजी स्कूलों के औसत शिक्षक की ऐसी तैयारी कतई नहीं होती कि वह सामाजिक तनावों, नीतिगत अपेक्षाओं और उन दबावों से निपट सके जो उसे जबरन बढ़ाए गए अंकों और प्रतिशतों वाले राजनीतिक रूप से स्वीकार्य परिणाम देने के लिए बाध्य करते हैं (बॉटरी 2006)।

शिक्षा में परिवर्तन का सूत्र एक दूरदर्शी दृष्टिकोण गढ़ना और फिर उस दृष्टिकोण को साकार करने के लिए क्षमताएँ विकसित करना है। काई–मिंग चैंग हमें याद दिलाते हैं कि, ''दृष्टिकोण निर्माण की प्रक्रिया सिर्फ व्यक्तिगत रूप से स्कूलों के नेताओं पर काम करने का मामला नहीं है, बल्कि इसके लिए ऐसी व्यापक संस्कृति के खिलाफ काम करना भी जरूरी है जो अलग–अलग स्कूलों के भीतर दृष्टिकोण विकसित करने के पक्ष में नहीं होती'' (1995)। दृष्टिकोणों का विकास अनुभव, चिन्तन और भागीदारी की सहायता से समय के साथ धीरे–धीरे होता है। इसके प्रभावपूर्ण होने के लिए ''स्कूलों के सभी नेताओं और काम करने वालों के लिए विश्वसनीय दृष्टिकोण निर्मित करने में समर्थ होने के पहले पर्याप्त विचारपूर्ण अनुभव होना आवश्यक है'' (फुलन 1995)।

शैक्षणिक नेतृत्व लोगों को उनके अपने विभागों के लिए दृष्टिकोण, उनकी भूमिका और कार्य करने के तरीके विकसित करने के प्रशिक्षित करने के अवसर प्रदान करता है। बच्चे शिक्षाक्षेत्र के अस्तित्व का मूल प्रयोजन हैं और स्कूल नेतृत्व इस बात को पुनर्स्थापित करने में सहायक होता है। शैक्षणिक नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय पद्धतियाँ अधिकाधिक नेताओं के समूहों को पहचानने, प्रेरित करने और विकसित करने का प्रशिक्षण दे रही हैं ताकि वे अपनी संस्थाओं को शैक्षणिक और दूरदर्शी नेतृत्व प्रदान कर सकें। क्या अब समय नहीं आ गया है कि हम इसके देशज सन्दर्भ और समझ विकसित करें कि शैक्षणिक नेता कैसे प्रासंगिक शैक्षणिक परिवर्तन को प्रभावित कर सकते हैं?

परीक्षा के लिए पढ़ाने का चलन

भारत के अधिकांश सरकारी और निजी स्कूलों में परीक्षा के लिए पढ़ाने का चलन और संस्कृति रही है। पढ़ाई के व्यवहारवादी प्रतिमान को पितृसत्ता और जाति द्वारा निर्धारित होने वाले नीच–ऊँच के मजबूत भारतीय पदानुक्रमों में अपना पूरक स्थान प्राप्त हो गया है। इसका परिणाम है स्तरों में अतिशय बँटा हुआ शैक्षणिक पदानुक्रम। जब तक शिक्षकों से परीक्षा व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करने की अपेक्षा की जाती रहेगी तब तक शिक्षकों और उनके काम की देखरेख करने वाले प्रमुख के सम्बन्ध की प्रकृति निरीक्षकीय बनी रहेगी। निरीक्षक या ब्लॉक शिक्षा अधिकारी के द्वारा जो कुछ प्रमुख से अपेक्षा की जाती है, वही माँग शिक्षक से की जाती है।

> *कोई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश स्कूल प्रमुख और ब्लॉक शिक्षा अधिकारी अपनी भूमिकाओं को सुरक्षित सरकारी नौकरियों की तरह निभाते हैं जहाँ नाममात्र का प्रयास ही काम का पूरा होना मान लिया जाता है। ऐसे में प्रतिभाशाली और समर्पित लोगों पर भी हताशा और कटुता हावी हो जाती है। सीखने में सहायक होने की शिक्षकों की भूमिका को सहयोग देने के पेशेवर तरीकों को सीखने में स्कूल–प्रमुखों और प्रशासकों को सक्षम बनाने में हमारी अड़चन क्या है?*

परीक्षा–संचालित शिक्षण की जंजीरें तोड़ने के लिए परिवर्तन की कल्पना करने की क्षमता होना जरूरी है। परिवर्तन की कल्पना करने में सक्षम होने के लिए परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक, संरचनात्मक और क्रियात्मक अवसर पैदा किए जाना जरूरी है। ऐसे अवसर पैदा करने की क्षमता संवाद, कौशलों के विकास और संरचनात्मक बदलावों से निकलती है। शैक्षणिक नेताओं को सार्थक संवाद की पहल करने और उसे सुगम बनाने में सक्षम बनाए जाने की जरूरत है। उन्हें प्रासंगिक पाठ्यक्रम प्रचलनों की व्याख्या करने और उनको लागू करने में बदलाव ला सकने के लिए अधिकार दिए जाने की

जरूरत है। और ऐसे परिवर्तनों, जो बच्चों और उनके शिक्षकों के लिए हितकर हों, को सुगम बनाने की उनकी सामर्थ्य पर भरोसा किए जाने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, जब स्कूल–प्रमुख अपने स्कूल में पढ़ने के वातावरण को प्रोत्साहित करना चाहें तो उन्हें ऐसी किताबें उपलब्ध करवाने में समर्थ होना चाहिए जो बच्चों और शिक्षकों, दोनों को प्रेरित कर सकें। वर्ष में कभी–कभी सहयोगियों के साथ कस्बों और शहरों में स्थित पुस्तकालयों और किताबों की दुकानों पर जाना, इसके लिए अत्यन्त आवश्यक प्राथमिक कदम होगा। इसी प्रकार, स्कूल में नियमित व्यायाम और खेलकूद का महत्व समझने के लिए बाहर होने वाले ऐसे कार्यक्रमों में भाग लेते रहना चाहिए जो उन्हें खुद की शारीरिक और मानसिक शक्तियों को पुष्ट करने में सहायक हों। जैसे–जैसे स्कूल के विभिन्न वर्षों में पाठ्यक्रम की संरचनाएँ विकसित होती हैं, वैसे–वैसे विद्यार्थियों की प्रगति आँकने की प्रक्रियाएँ और संकेतक भी विकसित होते हैं। बहु–स्तरीय सीखने पर काम करने का तात्पर्य अपरिहार्य रूप से पाठ्यक्रम को पढ़ाने के अनेक तरीके विकसित करना होता है। जो पद्धति कुछ बच्चों के लिए काम करती है वह अन्य के लिए काम नहीं करती। हो सकता है कि विशेष शिक्षा में उपयोग की जाने वाली रणनीतियाँ मुख्यधारा की कक्षाओं में सीखने में होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए नई अन्तर्दृष्टियाँ प्रदान कर सकें। शैक्षणिक नेता का काम सबके लिए प्रासंगिकता और सार्थकता को सुलभ बनाने के अनेक तरीके खोजने और निर्मित करने में शिक्षकों की मदद करना होता है।

नए औजार और प्रक्रियाएँ विकसित करने के साथ ही पालकों और स्थानीय समुदाय को परिवर्तनों से अवगत कराने की जिम्मेदारी भी सामने आती है। ऐसे अनुभवों का प्रबन्धन और नेतृत्व एक महती चुनौती साबित हो सकती है। प्रशिक्षित शैक्षणिक नेता सार्थक चरणों में परिवर्तन को सुलभ बनाने के लिए अभिनव प्रयोगों और दीर्घकालिक सम्बन्धों को बढ़ावा दे सकते हैं।

निष्कर्ष

सीखने के एक व्यावहारिक विषयक्षेत्र की तरह शैक्षणिक नेतृत्व शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न अवयवों (या उपव्यवस्थाओं) के बीच प्रगट तथा अप्रगट सम्बन्धों को स्थापित करने में शिक्षकों, अकादमिक विद्वानों और नीति–निर्माताओं के लिए जबरदस्त अवसर प्रदान करता है। उपव्यवस्थाओं के अन्तर्सम्बन्ध के अध्ययन द्वारा यह ऐसे ढाँचे प्रदान करता है जो अधिक व्यापक होते हैं और शिक्षा व्यवस्था में विभिन्न भागीदारों की बहुआयामी आवश्यकताओं को स्वीकार करते हैं। शिक्षा के सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक प्रतिमानों के व्यावहारिक अवयव विकसित करना किसी शैक्षणिक नायक के लिए सबसे बड़ी चुनौती होती है। गुणवत्ता और प्रदर्शन की बदलती हुई अपेक्षाओं के चलते शैक्षणिक नायकों को एक ओर मानकीकरण की पद्धतियों के गुण–दोषों और दूसरी ओर स्थानीय रूप से प्रासंगिक 'बहु–स्तरीय प्रतिमानों' को विकसित करने की सम्भावनाओं की पड़ताल करने और उन पर बहस करने की उत्तरोत्तर अधिक आवश्यकता है (सर्जियोवन्नी 2001)। शैक्षणिक नायक शोध, पेशेवर विचार–विनिमय और नीति विश्लेषण के द्वारा बदलती हुई पाठ्यक्रम तथा मूल्यांकन पद्धतियों और सामाजिक सहभागिता की नीतियों के लिए अपने को तैयार कर सकते हैं।

स्कूल के चलन में पारम्परिक मनोदृष्टि को बदलना आसान नहीं होता। परिवर्तन को सतत बनाए रखना उससे भी बड़ी चुनौती होती है। कई चरणों में परिवर्तन की कल्पना करने से उसे साकार करने वालों और उसमें भाग लेने वालों को जिन दिशाओं में परिवर्तन आकार लेगा उनके लिए तैयारी करने में सहायता मिलेगी (वैब 2005)। दृढ़ विश्वास निर्मित करने के अलावा, शिक्षा के वांछनीय प्रतिरूपों को स्कूल के भीतर, और स्कूलों की सहायता के लिए बने शिक्षा व्यवस्था के सभी ढाँचों में, सर्वांगीण योगदानों के विकास की आवश्यकता होती है।

शिक्षा और समाज में परिवर्तन की यात्रा की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी, शैक्षणिक नेतृत्व, अभी नदारद है। चूँकि संस्कृति और शिक्षा स्थिर नहीं होतीं, इसलिए यह जानना परिवर्तन का नेतृत्व करने के लिए आवश्यक पूर्व शर्त है कि क्या कारगर है और किस प्रकार विभिन्न अवयवों को कारगर होने में सक्षम बनाया जा सकता है।

Footnotes

1. Leithwood L., Et al. "Seven Strong Claims About School Leadership", www.ncsl.org.uk, 2009

References

1. Batra, S. (2003) 'From School inspection to School Support', in : Sood, N. (ed) Management of School Education in India, NIEPA.
2. Bottery, M (2006) 'Educational leaders in a globalizing world: a new set of priorities?' in School Leadership and Management, Vol. 26, No. 1, February, 2006.
3. Cheng, Kai-ming (1995) 'Vision building among school leaders' in Wong, K. C. and Cheng, K. M. (eds) Educational Leadership and Change: An International Perspective, Hong Kong, Hong Kong University Press.

4. Early, P. and Weindling, D.(2004) "A changing discourse: from management to leadership" in: Understanding school leadership, Paul Chapman Publications.
5. Fullan, Michael G.(1995) 'The evolution of change and the new work of the educational leader', in: Wong, K. C. and Cheng, K. M. (eds) Educational Leadership and Change: An International Perspective, Hong Kong, Hong Kong University Press.
6. Harris, Alma (2002) School Improvement: What's in it for schools?, Routledge Falmer, London.
7. Kumar, Krishna (1992) What is worth teaching?, Orient Longman, New Delhi.
8. Leithwood, K. et al (2004) 'Strategic leadership for large scale reform: the case of England's National Literacy and Numeracy Strategy' in School Leadership and Management, Vol. 24, No. 1, February 2004.
9. Leithwood K., et al. (2009) "Seven strong claims about school leadership", www.ncsl.org.uk
10. Senge, P. M. (1990). The ffth discipline: The art and practice of the learning organization. New York: Doubleday.
11. Sergiovanni, Thomas R.(2001) Leadership: What's in it for schools?, Routledge, London.
12. Webb, Rosemary (2005) 'Leading teaching and learning in the primary school' in Educational Management Administration and Leadership, Sage Publications, Vol 33 (1), 69-91, 2005
13. Wong, Kam-cheung (1995) 'Culture and leadership', in: Wong, K. C. and Cheng, K. M. (eds) Educational Leadership and Change: An International Perspective, Hong Kong, Hong Kong University Press.

सुनील बत्रा, एम.एड. हैं। वे बीस वर्षों से भी अधिक समय से शिक्षा में प्रगतिशील प्रचलनों को सुलभ बनाने के लिए बच्चों, शिक्षकों, स्कूल–प्रमुखों और पालकों के साथ घनिष्ठ रूप से काम कर रहे हैं। वे प्रगतिशील स्कूलों को नर्सरी से लेकर कक्षा 12 तक विकसित करने में विशेषज्ञ हैं तथा शैक्षणिक नेतृत्व और प्रबन्धन में उच्चतर शिक्षा कार्यक्रमों को बनाने व कार्यान्वित करने में संलग्न हैं। सुनील गुड़गाँव में स्थित एक प्रयोगधर्मी स्कूल, शिक्षान्तर, के संस्थापक शिक्षा निदेशक हैं। उन्हें शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव प्राप्त है। वे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (एनसीआर) के कई स्कूलों से जुड़े रहे हैं तथा दिल्ली और मुम्बई के विश्वविद्यालयों, गैरसरकारी संगठनों तथा भारत सरकार की शैक्षणिक पहलों के स्रोत व्यक्ति हैं। उनसे sunilbatra07@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

02 स्कूल नेतृत्व का सन्दर्भ

हृदयकांत दीवान एवं प्रीति मिश्रा

हृदयकांत दीवान

प्रीति मिश्रा

एक अच्छा स्कूल कैसा हो?

स्कूल नेतृत्व को समझने के लिए पहले इस पर विचार करना उचित होगा कि एक स्कूल क्या करता है और वे कौन से तत्व होते हैं जिनके कारण वह अच्छी तरह काम करता है। स्कूलों के हमारे सामूहिक अनुभव से हम सभी जानते हैं कि इन तत्वों की पहचान करना आसान नहीं होता। अभी तक विभिन्न पहलुओं की कोई ऐसी स्पष्ट जमावट नहीं है जो किसी स्कूल की गुणवत्ता सुनिश्चित कर सके। हाल के समय में इन पहलुओं को पहचानने और उनका वर्णन करने के प्रयास हुए हैं, पर वे बुनियादी अधोसंरचना और प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता से आगे नहीं जा पाए हैं। कुछ मामलों में विस्तार करके उनमें पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त पढ़ने–पढ़ाने की सामग्री, और बच्चों के लिए वे बुनियादी सुविधाएँ जो उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करती हैं, को भी सम्मिलित किया गया है। स्कूलों पर किए गए अध्ययनों के अनुभव और स्कूलों के सम्पर्क में रहने वाले लोगों के किस्सों और उनसे बातचीत से प्रतीत होता है, कि ये कारक स्कूल के काम करने के तरीके को एक हद तक प्रभावित करते हैं, पर ये निश्चित रूप से सबसे महत्वपूर्ण नहीं हैं। ऐसे स्कूल भी– जो एक–दूसरे के एकदम आसपास हैं और अधोसंरचना, वातावरण, परिवेश की दृष्टि से मोटे तौर पर समान हैं तथा जिनमें समान रूप से प्रशिक्षित और शिक्षित शिक्षक हैं – बच्चों के प्रति बिलकुल अलग रवैया दर्शा सकते हैं। दूसरी तरफ इन स्कूलों से बच्चे जिस तरह का जुड़ाव महसूस करते हैं और जो परिणाम निकलते हैं वे भी बहुत भिन्न होते हैं।

> *यह स्पष्ट है कि बच्चे को एक समग्र शैक्षणिक अनुभव देने के लिए स्कूल को एक संगठित दल की तरह काम करना पड़ता है। शिक्षकों के बीच बच्चों के बारे में विचारों और जानकारियों का आदान–प्रदान होना, और आगे कैसे बढ़ें, इसके बारे में एक साझा दृष्टिकोण होना जरूरी है। शिक्षकों को न केवल कक्षाओं को रोचक बनाने की सम्भावनाओं की कल्पना करना पड़ती है बल्कि उनके लिए गतिविधियों की व्यवस्था करना और बच्चों से धैर्यपूर्वक उनको करवाना भी पड़ता है। इसलिए मतभेद को साझा करने और उसको सुलझाने के काम को एक विधिवत प्रक्रिया या व्यक्ति की सहायता से करना बेहद जरूरी हो जाता है। अधिकांश मामलों में स्कूल के प्रमुख को संयोजक की यह भूमिका निभाना पड़ती है।*

इन परिणामों की हमारी परिभाषा इस पर निर्भर करती है कि हमारी राय में स्कूल की भूमिका और उससे निकलने वाले बच्चे – एक अर्थ में स्कूल के उत्पाद – कैसे होने चाहिए। उदाहरण के लिए, ऐसी अपेक्षा की जा सकती है कि किसी स्कूल से निकलने वाले बच्चे बड़े होकर ऐसे व्यक्ति बनें जो द्रुत गति से बिना त्रुटियों के गणनाएँ कर सकें। इसका मतलब यह होगा कि वह स्कूल यह सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा, चाहे इसके लिए उन्हें अवधारणात्मक स्पष्टता निर्मित करने की उपेक्षा करना पड़े।

वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा का अर्थ अधिक व्यापक हो गया है। शिक्षा के विमर्श में सर्वसहमति से बना प्रमुख दृष्टिकोण यह है कि स्कूल को बच्चों को सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान करना है, जिसमें केवल पढ़ना, लिखना और ज्ञात सवालों को हल करना सिखाना ही नहीं है, इसके अलावा और बहुत कुछ भी है। बच्चों को दूसरे बच्चों से तालमेल बिठाने, दूसरों के दर्द के प्रति संवेदनशील होने और साथ ही दूसरों का सम्मान करने की समझ देने की भी जरूरत होती है। उन्हें नए विचार हासिल करने और स्वयं अपने विवरण रचने के काबिल बनाने की जरूरत होती है। हम जानते हैं कि मनुष्य ज्ञान को टुकड़ों–टुकड़ों में हासिल नहीं करते। किसी चीज की अधिक स्पष्ट समग्र तस्वीर प्राप्त करने के लिए अनेक विचार एक साथ समेकित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, बल की अवधारणा कई अन्य अवधारणाओं जैसे ऊर्जा, शक्ति, कार्य और संवेग के साथ विकसित होते हुए, पर उनसे भिन्नता के कारण और अधिक स्पष्ट होती जाती है। या, एक परिमेय संख्या का विचार जैसे–जैसे विकसित होता है, वह प्राकृतिक, ऋणात्मक व भिन्नात्मक संख्याओं की बेहतर समझ बनाने में भी सहायक होता है। अवधारणाएँ जैसे–जैसे विकसित होती हैं, वैसे–वैसे दूसरे विषयों से सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ियाँ भी और मजबूत होती जाती हैं। ये सीखने के कुछ महत्वपूर्ण पहलू हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह स्पष्ट है कि बच्चे को एक समग्र शैक्षणिक अनुभव देने के लिए स्कूल को एक संगठित टीम की तरह काम करना पड़ता है। शिक्षकों के बीच बच्चों के बारे में विचारों और जानकारियों का आदान–प्रदान होना, और आगे कैसे बढ़ें, इसके बारे में एक साझा दृष्टिकोण होना जरूरी है। प्रत्येक शिक्षक को न केवल यह पता होना चाहिए कि अन्य शिक्षक क्या, क्यों और कैसे कर रहे हैं, बल्कि एक साझा रूपरेखा भी होना चाहिए जो हर व्यक्ति की यह अनुमान लगाने में

मदद कर सके कि किसी खास परिस्थिति में अपेक्षित प्रतिउत्तर क्या है। ऐसी टीम के ठीक से काम करने के लिए एक ऐसी प्रक्रिया की जरूरत है जिसमें एकजुट तालमेल विकसित किया जा सके, उसे मजबूत बनाया जा सके और पोषित किया जा सके। दृष्टिकोणों के मतभेदों या तीखी व्यक्तिगत धारणाओं को या तो टाला जा सकता है या उन्हें सबके साथ बाँटकर उन पर चर्चा की जा सकती है। पर उन्हें रोजमर्रा के कामकाज को विकृत करने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए। खासकर इस तथ्य को देखते हुए कि प्रत्येक शिक्षक को दिन का काफी समय बच्चों के समूह के साथ काम करने और संवाद करने में बिताना पड़ता है। ये कार्य सत्र थकाने वाले हो सकते हैं और उन्हें रोचक बनाना हमेशा आसान नहीं होता। शिक्षकों को न केवल कक्षाओं को रोचक बनाने की सम्भावनाओं की कल्पना करना पड़ती है बल्कि उनके लिए गतिविधियों की व्यवस्था करना और बच्चों से धैर्यपूर्वक उनको करवाना भी पड़ता है। इसलिए मतभेद को साझा करने और उसको सुलझाने के काम को एक विधिवत प्रक्रिया या व्यक्ति की सहायता से करना बेहद जरूरी हो जाता है। अधिकांश मामलों में स्कूल के प्रमुख को संयोजक की यह भूमिका निभाना पड़ती है।

स्कूल प्रमुख

स्कूल प्रमुख की भूमिका को स्पष्ट करना महत्वपूर्ण है। बड़े स्कूलों के सन्दर्भ में, जहाँ अनेक शिक्षक और अनेक विभाग होते हैं, स्कूल प्रमुख की भूमिका मुख्य प्रशासक और प्रबन्धक की होती है। यह वांछनीय माना जाता है कि स्कूल प्रमुख किसी नौकरशाही तंत्र के प्रमुख की तरह कार्य करे ताकि सभी को सभी व्यवस्थाएँ समझ में आ सकें। पर ऐसे ढाँचे में सभी स्तरों पर सभी चीजों के बारे में संवाद और चर्चाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती क्योंकि स्कूल की व्यवस्था को एकदम यंत्रवत ठीक–ठीक चलना होता है। छोटी संस्थाओं में भी प्रक्रियात्मक 'समानता' और 'पारदर्शिता' की माँग की जाती है, जो स्कूल प्रमुख के विकल्पों और लचीलेपन को कम कर देती है।

क्या स्कूल प्रमुख एक प्रशासक होता है, या एक अकादमिक शिक्षक होता है? यदि हम स्कूल प्रमुख को एक प्रशासनिक प्रमुख और प्रबन्धक की भूमिका निभाने वाले की तरह देखते हैं तो हम नेतृत्व को मुख्य रूप से एक प्रबन्धन के मुद्दे की तरह देख रहे हैं। तब प्रश्न है कि सबसे असरदार प्रबन्धक कौन होगा? क्या उसमें प्रबन्धकीय कुशाग्रता की ज्यादा जरूरत होती है या कि जनसम्पर्क बनाने और लोगों से व्यवहार करने के कौशल की? यहाँ हमें फिर से यह पूछना होगा कि क्या यह पर्याप्त है, या कि टीम को किसी ऐसे व्यक्ति की भी जरूरत है जिसका शैक्षणिक रुझान हो और जो स्कूल का नेतृत्व करने में सक्षम हो। जाहिर सी बात है कि कोई ऐसा व्यक्ति स्कूल प्रमुख नहीं हो सकता जो केवल जनसम्पर्क में और लोगों से बरतने में निपुण हो, इससे कहीं अधिक की जरूरत होती है। ऐसा व्यक्ति शिक्षकों में विश्वास नहीं जगा पाएगा और न ही एक ऐसी संस्था का नेतृत्व कर पाएगा जो शिक्षा की सतत बदलती हुई समझ के साथ तालमेल बिठाने में सक्षम हो। एक अर्थ में, बुनियादी स्तर पर स्कूल प्रमुख को जिन श्रेणियों में रखा जा सकता है वे मोटे तौर पर प्रशासनिक प्रमुख या शैक्षणिक नायक की हैं।

यदि हम स्कूल प्रमुख को एक प्रशासनिक प्रमुख और प्रबन्धक की भूमिका निभाने वाले की तरह देखते हैं तो हम नेतृत्व को मुख्य रूप से एक प्रबन्धन के मुद्दे की तरह देख रहे हैं। तब प्रश्न है कि सबसे असरदार प्रबन्धक कौन होगा? क्या उसमें प्रबन्धकीय कुशाग्रता की ज्यादा जरूरत होती है या कि जनसम्पर्क बनाने और लोगों से व्यवहार करने के कौशल की? यहाँ हमें फिर से यह पूछना होगा कि क्या यह पर्याप्त है, या कि टीम को किसी ऐसे व्यक्ति की भी जरूरत है जिसका शैक्षणिक रुझान हो और जो स्कूल का नेतृत्व करने में सक्षम हो।

शैक्षणिक नायक से शिक्षकों के साथ संवाद करने और उन्हें सलाह देने में सक्षम होने की अपेक्षा की जाती है। वर्तमान सन्दर्भ में जब सिखाने और सीखने को पुनर्परिभाषित किया जा रहा है, और जिसमें सीखने पर अधिक जोर दिया जा रहा है, शिक्षक की भूमिका कुछ कम पूर्व–निर्धारित होती है और उसमें विकल्पों को चुनने की अधिक सम्भावना रहती है। इस सन्दर्भ में, ''शिक्षा नायक'' पद का आशय केवल किसी शिक्षण संस्था का प्रमुख ही नहीं है बल्कि ऐसा व्यक्ति है जो स्वयं भी सीख रहा है। स्कूल को तब सीखने वालों का एक समुदाय और नायक को उस समुदाय का प्रमुख माना जा सकता है। पर यह बहुत साफ नहीं है कि यह व्यवस्था कैसे काम करेगी, खासकर इस अपेक्षा को देखते हुए कि एक बड़े ढाँचे को सुसंगठित ढंग से इस प्रकार काम करना चाहिए कि हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी को जाने और उसके निभाए जाने को सुनिश्चित करे।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करना जरूरी है कि स्कूल प्रमुख से विद्यार्थियों के माता–पिताओं और बृहद समुदाय से सहयोग प्राप्त करने की अपेक्षा भी की जाती है। इसलिए स्कूल का परिणाम और उत्पाद एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। अनेक पालकों और सामान्य समाज की दृष्टि में, संस्थाओं की साख विद्यार्थियों द्वारा अर्जित उपाधियों, प्रमाणपत्रों और उत्तीर्ण होने की श्रेणियों से आँकी जाती है। स्कूल को अच्छा प्रदर्शन करने वाले विद्यार्थियों के झुण्ड पैदा करना पड़ते हैं। इसलिए अच्छी शिक्षा क्या है, इसको लेकर हो

सकता है कि शिक्षकों और स्कूल की कुछ विशेष दृष्टियाँ हों, पर उनके बजाय उन्हें महत्व इस बात को देना पड़ता है कि पालकों और समाज की अपेक्षा और मान्यता क्या है। स्कूल जिस माहौल में काम करते हैं उसकी अपनी अपेक्षाएँ और माँगे होती हैं। स्कूल को पालकों की अपेक्षाओं को पूरा करना पड़ता है ताकि उनकी रुचि बनी रहे और स्कूल को बच्चे मिलते रहें। यह स्वाभाविक है कि स्कूल का कामकाज उसके माहौल से और इतिहास द्वारा उस पर थोपे गए ढाँचों से प्रभावित हो। किसी नायक के आगे बढ़ने के लिए इस तथ्य को पहचानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि एक बाहरी परिवेश होता है और एक आन्तरिक परिवेश होता है जिसके भीतर स्कूल की प्रक्रियाओं की परिकल्पना की जा सकती है।

नायक की धारणा

सामान्य दृष्टि से हम किसी भी ढाँचे में नायक की भूमिका को निम्नलिखित सूत्रों में बाँटकर उसका विश्लेषण कर सकते हैं। ये सब नेतृत्व को मोटे तौर पर वर्णित करते हैं और इन्हें पहले सभी स्कूलों के सन्दर्भ में, और फिर एक खास स्कूल के सन्दर्भ में देखने की जरूरत है:

1. हम कल्पना कर सकते हैं कि एक नायक द्वारा ऐसे लक्ष्य निर्धारित किए जाने से, जो उसकी और उसके अनुयायियों की जरूरतों को पूरा करते हों, सामाजिक रूप से उपयोगी परिणाम उपलब्ध करने की सम्भावना अधिक होती है। इससे यह लाभ होता है कि वास्तविक नेतृत्व में और केवल ''लोगों से अपनी इच्छानुसार काम करवाने'' में भेद किया जा सकता है।
2. ''रूपान्तरकारी नेतृत्व'' – सामाजिक रूप से उपयोगी लक्ष्यों को न केवल अनुयायियों की जरूरतों को पूरा करना चाहिए बल्कि उन्हें एक अधिक ऊँचे नैतिक स्तर तक ऊपर भी उठाना चाहिए। स्कूलों में यह बहुत जरूरी है क्योंकि शिक्षकों के ऊपर विद्यार्थियों के लिए एक उदाहरण पेश करने की अतिरिक्त जिम्मेदारी भी रहती है।
3. नेतृत्व को अनुकूलन कार्य की दृष्टि से देखना। अनुकूलन कार्य से तात्पर्य है विभिन्न लोगों के मूल्यों में टकरावों को सुलझाना या उस खाई को कम करना जो लोगों द्वारा आदर्श माने जाने वाले मूल्यों और उस यथार्थ के बीच होता है जिससे उनका सामना होता है। अनुकूलन कार्य के लिए मूल्यों, विश्वासों और व्यवहार में बदलाव की जरूरत होती है। समाज के भीतर चाहरदीवारों के झिरझिरेपन के कारण स्कूलों के सन्दर्भ में यह कार्य अति महत्वपूर्ण हो जाता है।

यह नेतृत्व की जिम्मेदारी है और उससे अपेक्षा भी है। स्कूल प्रमुख से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संवाद को सुगम बनाएगा, अन्तर्दृष्टियों को स्पष्ट करेगा और उन्हें सबके साथ बाँटना सुनिश्चित करेगा। यह जरूरी है कि प्रमुख शिक्षकों को ऐसे तरीके खोजने के लिए प्रेरित और उत्साहित करे जिनसे वातावरण और विद्यार्थियों के प्रदर्शन में सुधार हो, और वह यह भी सुनिश्चित करे कि शिक्षकों और विद्यार्थियों की भागीदारी आनन्दपूर्ण और असरदार हो। नेतृत्व के लिए यह भी जरूरी है कि वह दूरदर्शी हो, परिस्थिति में होने वाले परिवर्तनों का अनुमान लगाए, यह देखे कि उस क्षेत्र में नया और रोचक क्या हो रहा है और उसके कौन–से तत्व प्रासंगिक और सार्थक हैं। उसे कठिन परिस्थितियों से निपटने में और बाहरी हस्तक्षेपों और अड़चनों से पार पाने में भी सक्षम होना चाहिए। जरूरतों की सूची तो और भी लम्बी हो सकती है, पर यह उन बातों को इंगित करती हैं जो बेहद जरूरी हैं।

नेतृत्व व्यवस्थाएँ

अन्य संगठनों और ढाँचों की तरह स्कूल भी नेतृत्व की विभिन्न व्यवस्थाओं की प्रायोगिक छानबीन कर सकते हैं। पर अधिकांश मामलों में, चाहे स्कूलों में या सामूहिक नेतृत्व को आजमा रहे अन्य ढाँचों में, किसी ऐसे व्यक्ति का सामने आना जरूरी होता है जो अधिक जिम्मेदारी वहन करने को तैयार हो। ऐसा व्यक्ति अधिक जिम्मेदारी और रुचि लेगा और किसी भी परिस्थिति के सामने आने पर उससे निपटने वाला केन्द्रीय व्यक्ति होगा। वह चर्चाओं को सुलभ बनाने के लिए और यह सुनिश्चित करने के लिए जिम्मेदार होगा कि लोग एक–दूसरे के कार्यक्षेत्र में दखल न दें तथा खुले दिमाग से दूसरों के विचारों और अभिमतों को सुनें। कई लोग जो ऐसी जिम्मेदारी हासिल करते हैं, वे नेतृत्व में दूसरों की भागीदारी सुनिश्चित करने का भरसक प्रयास करते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उनकी जिम्मेदारी घट जाती है।

स्कूल प्रमुख से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संवाद को सुगम बनाएगा, अन्तर्दृष्टियों को स्पष्ट करेगा और उन्हें सबके साथ बाँटना सुनिश्चित करेगा। यह जरूरी है कि प्रमुख शिक्षकों को ऐसे तरीके खोजने के लिए प्रेरित और उत्साहित करे जिनसे वातावरण और विद्यार्थियों के प्रदर्शन में सुधार हो, और वह यह भी सुनिश्चित करे कि शिक्षकों और विद्यार्थियों की भागीदारी आनन्दपूर्ण और असरदार हो।

अनेक ढाँचों में, एक व्यक्ति किसी निश्चित अवधि के लिए समन्वयक की भूमिका निभाता है। उसके कार्यकाल के बाद टीम में से कोई अन्य व्यक्ति यह जिम्मेदारी ले लेता है। इसलिए ऐसी व्यवस्था में 'नेतृत्व' एक व्यक्ति में केन्द्रित न रहकर एक बड़े समूह में बँट जाता है। किसी ढाँचे पर नेतृत्व की ऐसी प्रणाली का प्रभाव मिला–जुला होता है और ऐसी व्यवस्था के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं। ये दृष्टिकोण नेतृत्व की भिन्न धारणाओं से और उन कारकों से

निकलते हैं जो लोगों को अधिक गम्भीरता और सक्रियता से काम करने को प्रेरित करते हैं।

यह बहस केवल रोचक ही नहीं है बल्कि ऐसे स्कूल के सन्दर्भ में प्रासंगिक भी है जिसे ऐसे टीम या व्यक्ति को परिभाषित करने की जरूरत है जो साथियों के बीच संवाद को सुनिश्चित करे। इस संवाद को हर दिन भिन्न होने की जरूरत पड़ती है क्योंकि यह बच्चों को, उनके शैक्षिक अनुभवों को, और उनके आसपास के समाज में मौजूद चुनौतियों को सम्बोधित करता है। जाहिर है कि इसमें कोई खास बँधे–बँधाए उत्तर नहीं हो सकते क्योंकि वे व्यापक सन्दर्भ से जुड़े रहते हैं जिसमें न केवल बच्चे बल्कि उनके माता–पिता और स्कूल के सहकर्मी भी शामिल रहते हैं। यह एक सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ का अंग होने का निहितार्थ है, हालाँकि संवाद और समाधानों का ऐसा लचीलापन, स्कूल के बहुत हद तक परिभाषित ढाँचे और उसके बड़े भाग के अपरिवर्तनीय नियमों से संचालित होने के बावजूद बनाए रखना होता है। समाधानों का स्कूल के दृष्टिकोण और उद्देश्य के अनुरूप होना जरूरी है। वे रणनीति की दृष्टि से स्वीकार्य और अमल में ला सकने वाले भी होने चाहिए।

किसी भी उत्तर के व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार्य होने के लिए शिक्षकों के दृष्टिकोणों में सहमति होना बहुत महत्वपूर्ण है। बड़े समूहों में से अक्सर अनौपचारिक सम्पर्क जाल निकल सकते हैं। इन संजालों की रूपरेखाएँ सुसंगत नहीं होतीं, इसलिए यह जरूरी नहीं कि उनमें शामिल सभी शिक्षकों की मान्यताएँ और शैलियाँ समान हों। शिक्षा पर होने वाली अधिकांश बहसों में बारीक सटीकता का अभाव दिखाई देता है, इसलिए अपेक्षाकृत भिन्न–भिन्न मत रखने वाले लोग भी एक ही पक्ष में हो सकते हैं। एक स्वीकार्य रणनीति बनाने के लिए सबसे महत्वपूर्ण कदम ऐसा संवाद विकसित करना है जिसमें खुली बहस हो सके। एक ऐसी प्रक्रिया हो जिसमें प्रचलन के अनुसार चुने जाने वाले लक्ष्यों और रणनीतियों पर तर्कसंगत प्रश्न उठाए जा सकें और उनके विकल्पों पर ठण्डे दिमाग से विचार किया जा सके। एक ऐसी संस्कृति निर्मित किए जाने की जरूरत है जिसमें शिक्षक परिस्थितियों और चुनौतियों का सामूहिक रूप से विश्लेषण करने और उन पर काम करने में समर्थ हों। यह स्पष्ट है कि जब शिक्षक समूह में लक्ष्यों और रणनीतियों के सम्बन्ध में एकजुटता होगी, सिर्फ तभी विद्यार्थियों में उल्लेखनीय विकास होगा। यह एकजुटता महत्वपूर्ण है क्योंकि जहाँ एक ओर कक्षाओं की अपनी पूर्व–निर्धारित समय–सारणियाँ होती हैं वहाँ सुनिश्चित प्रक्रियाओं का पालन किया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर किसी शिक्षक के दिन–प्रतिदिन के कार्य में उसे विविध प्रकार के विद्यार्थियों का सामना करते हुए हर बार विविध प्रकार के उत्तर देने की जरूरत पड़ती है, कोई भी पूर्व–निर्धारित ढाँचे उसका मार्गदर्शन नहीं कर सकते। इसकी भविष्यवाणी करने का कोई भी तरीका नहीं है कि कक्षा की चर्चाएँ या गतिविधियाँ किस ओर ले जा सकती हैं। यदि लक्ष्यों और रणनीति के स्तर पर एक स्वीकृत सहमति हो तो उसका ध्यान रखते हुए विभिन्न शिक्षक अलग–अलग विकल्प चुन सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि किसी काम कर रही व्यवस्था में ऊपर से दिखने वाले मतभेद, अप्रसन्नता, असंतोष और तनाव अनुचित ढंग से चलाई जा रही संस्था के लक्षण हों। ये सब वैचारिक स्वतंत्रता और उसकी अनुमति देने वाले वातावरण के परिचायक भी हो सकते हैं। किसी व्यवस्था पर फैसला देने से पहले हमें अन्य संकेतों को तलाशना होगा और गहरी छानबीन करना होगी। ऐसी सतही आम सहमति, जिसमें सभी व्यक्ति एक से दृष्टिकोण को व्यक्त करें, किसी अच्छे से संचालित परन्तु रचनात्मकता और विचारशीलता के अभाव से ग्रस्त व्यवस्था का परिचायक भी हो सकती है।

चुनौतियाँ और रणनीतियाँ

इस बात को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि स्कूल प्रमुख को अनेक दिशा निर्देशों का पालन करना पड़ता है। सभी स्कूलों को ऐसी पाठ्यक्रम रूपरेखाओं का अनुसरण करना पड़ता है जो राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर विकसित की जाती हैं। हो सकता है कि इन रूपरेखाओं में स्थानीय स्तर पर निर्णय लेने के कुछ अवसर बचे रहते हों। परन्तु मुख्य कार्यप्रणाली को राज्य की पाठ्यक्रम अपेक्षाओं की सीमाओं और जिले की शासकीय संस्थाओं के द्वारा निर्धारित मानदण्डों के अन्तर्गत होना पड़ता है। किसी बड़े निकाय, जैसे शासकीय स्कूल व्यवस्था, द्वारा संचालित किसी स्कूल के प्रधानाचार्य के पास लचीलेपन की गुंजाइश सीमित ही रहती है। बड़े स्तर पर तय किए गए पाठ्यक्रम के विकल्पों के अलावा रणनीतियों और कार्यप्रणालियों के विकल्प भी उस व्यवस्था द्वारा पहले से तय रहते हैं जिसका वह स्कूल प्रमुख एक अंग होता है। कभी–कभी स्कूल के भीतर के ढाँचे भी पहले से तय रहते हैं, फलस्वरूप उसके पास अपनी अन्तर्प्रेरणाओं और स्थानीय जरूरतों के अनुरूप ढाँचे खड़े करने का अत्यन्त सीमित अवसर रहता है। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि किसी स्कूल में अच्छे विज्ञान शिक्षक न हों और फलस्वरूप वह विज्ञान में ज्यादा कुछ न कर सके, पर साथ ही उसके पास इतिहास के श्रेष्ठ शिक्षक हो सकते हैं। पर इसका उसे

एक ऐसी संस्कृति निर्मित किए जाने की जरूरत है जिसमें शिक्षक परिस्थितियों और चुनौतियों का सामूहिक रूप से विश्लेषण करने और उन पर काम करने में समर्थ हों। यह स्पष्ट है कि जब शिक्षक समूह में लक्ष्यों और रणनीतियों के सम्बन्ध में एकजुटता होगी, सिर्फ तभी विद्यार्थियों में उल्लेखनीय विकास होगा।

कुछ लाभ नहीं मिल सकता क्योंकि स्कूल प्रमुख इतिहास को अधिक समय नहीं दे सकता। न ही वह गणित और भाषा पर अधिक जोर दे सकता है, यदि वे उसे अपने स्कूल के सन्दर्भ में अधिक महत्वपूर्ण लगें तो भी नहीं। न ही वह ऐसी समय सारणी बना सकता है जो जिला या राज्य स्तर पर सुझाए गए प्रतिरूप से बहुत भिन्न हो। कक्षा की प्रक्रियाओं और मूल्यांकन में भी उसे मोटे तौर पर समान रूपरेखाओं का अनुसरण करना पड़ता है। इसलिए स्कूल प्रमुख की भूमिका का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने की तथा उसमें विकल्पों की गुंजाइश निकालने और उन पर जोर देने की जरूरत है।

ऐसी स्थिति में, खासकर एक बड़ी प्रशासकीय व्यवस्था के अंग के रूप में, अपने आप को असहाय और किसी भी प्रकार की पहल करने में असमर्थ महसूस करना बहुत आसान है। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि पहल करने की इच्छा का अभाव जिम्मेदारी लेने के लिए राजी न होने से उपजता है। स्वयं के चुने हुए विकल्पों को समझाने और उन्हें उचित ठहराने की अपेक्षा प्रचलित ढर्रे का अनुसरण करना ज्यादा सुरक्षित होता है। ऐसे परिवेश में जो अनुकूल न हो और जहाँ रूपान्तरकारी प्रक्रियाओं के लिए सहयोग मिलना आसान न हो, यह बात विशेष रूप से सही बैठती है। समाज और उसके बृहद ढाँचे से न तो स्कूल अलग–थलग होता है और न ही उसके शैक्षणिक या प्रशासनिक अंग अलग होते हैं। इसलिए यथार्थ का यह अहसास स्कूल के नेतृत्व के बारे में बात करने की सीमाएँ बाँध देता है। एक अन्य चुनौती यह है कि अक्सर स्थानीय परिवेश और निहित स्वार्थों के कारण स्कूल प्रमुख के कुछ करने की गुंजाइश सीमित हो जाती है। उसे अपना उप–प्रमुख नियुक्त करने की भी छूट नहीं रहती क्योंकि उसका नाम बृहद पदानुक्रम व्यवस्था द्वारा पहले से तय रहता है। एक अन्य परिदृश्य सम्पन्न वर्ग के निजी स्कूलों की किसी शृंखला के बच्चों के पालकों की आकांक्षाओं का हो सकता है, जो निम्न वर्ग के स्कूली बच्चों के पालकों से बहुत भिन्न हो सकती हैं, और उसी के अनुरूप स्कूल प्रमुख के द्वारा अपनाई जाने वाली रणनीति भी बहुत भिन्न होगी।

> *मैं कैसे आगे बढ़ूँ? क्या मैं तत्काल एक पुस्तकालय के लिए आग्रह करूँ, या कुछ समय के लिए पुस्तकालयों के बारे में भूल जाऊँ, या विचार–विमर्श की प्रक्रिया के लिए प्रयास करूँ? क्या कम उत्पादक लोगों के सामने एक उत्पादक व्यक्ति का उदाहरण देना सार्थक और प्रेरक होगा या वह उन्हें नाराज, कुँठित और चिड़चिड़ा बनाएगा?*

जो स्कूल किसी बड़ी शृंखला के अंग होते हैं वे उसके दर्शन और कार्यकारी रणनीति से बँधे रहते हैं। इन स्कूलों की कुछ परम्पराओं के पीछे अकसर कोई सुविचारित तर्काधार नहीं होता पर वे उनमें इतनी गहराई से जमी रहती हैं कि उन्हें बदलना या उन पर कुछ बेहतर आरोपित करना कठिन होता है। यह समझना महत्वपूर्ण है कि इस समस्या से पार पाने के लिए कोई रणनीति होना जरूरी है, लेकिन सिर्फ एक निर्णय लेकर उसे कार्यान्वित करके यह नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, एक नए स्कूल प्रमुख के नाते आपको लगे कि वर्तमान प्रातःसभा में गैर धर्मनिरपेक्ष कार्यक्रम होते हैं या उनमें मानवीय स्वतंत्रता और तार्किकता का अभाव झलकता है, पर स्कूल में आपके सहकर्मी वर्षों से यह करते आ रहे हैं। उन्हें ये प्रार्थनाएँ मूल्यवान प्रतीत होती हैं जो बृहद संस्कृति का हिस्सा भी हो सकती हैं। हो सकता है कि आपका लक्ष्य बच्चों की सक्रिय भागीदारी को बढ़ाना हो या वैकल्पिक मुद्दों पर केन्द्रित करते हुए, शैक्षणिक गतिविधि के एक अंग की तरह प्रातः सभा की परिकल्पना करना और उसकी योजना बनाना हो। लेकिन यह केवल धीरे–धीरे सभी को शामिल करते हुए दृष्टिकोणों तथा सम्भावनाओं की खुली चर्चा की सहायता से ही किया जा सकता है। सहयोगी टीम प्रातःसभा के उद्देश्य को समझे और उसके क्रियान्वयन के लिए प्रभावी कार्यक्रम की दिशा में आगे बढ़े इसके लिए विविध प्रकार के छोटे चरणों वाली कई रणनीतियाँ हो सकती हैं। एक अतिवादी तर्क यह हो सकता है कि प्रातःसभा को एकदम बन्द कर दिया जाना चाहिए क्योंकि उसका कोई औचित्य नहीं है। बच्चे सीधे अपनी कक्षाओं में जाएँ और पढ़ाई शुरू करें। एक और तरीका यह है कि बच्चे इकट्ठे हों और कुछ शारीरिक व्यायामों और खेलों से दिन की शुरुआत करें। एक तीसरा दृष्टिकोण यह हो सकता है कि प्रातःसभा में बिताया गया समय महत्वपूर्ण होता है और बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में उसका योगदान रहता है, इसे देखते हुए उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए सभा का स्वरूप और उसमें निहित गतिविधियों को किसी हद तक बदला तो जा सकता है पर सभा को बनाए रखना जरूरी है। इन सभी रणनीतियों पर स्कूल में पहले से कार्यरत वरिष्ठ सहयोगियों के साथ विचार–विमर्श करना आवश्यक होगा। ये निर्णय उनकी सहमति और भागीदारी से ही क्रियान्वित किए जा सकते हैं।

यदि आप उपरोक्त तीनों रणनीतियों को तटस्थ दृष्टि से देखें तो आप हरेक में गुण और दोष, दोनों पाएँगे। एक नवनियुक्त प्रमुख की हैसियत से आप क्या चुनेंगे, यह आपके व्यक्तित्व और परिस्थितियों से तय होगा। हम जानते हैं कि ''नेतृत्व'' का आशय केवल प्रमुख की तरह नियुक्त व्यक्ति ही नहीं होता बल्कि उसमें वे अन्य लोग भी शामिल रहते हैं जो किसी अर्थ में स्कूल की भूमिका को स्पष्ट करते हैं और उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। क्या यह निर्णय पूरी तरह इस आधार पर लिया जाना चाहिए कि प्रमुख या नेतृत्व दल किसे उपयुक्त मानते हैं, या इसमें अन्य कारकों का भी ध्यान रखना पड़ता

है? जहाँ यह स्कूल प्रमुख को व्यापक मुद्दों पर संवाद छेड़ने का अवसर देता है वहीं इसमें उसके निर्णयात्मक अधिकार के क्षीण होने की सम्भावना भी दिखाई देती है। संवाद की प्रक्रिया में कुछ थोड़े से ऐसे लोगों के द्वारा बाधा डाली जा सकती है जो अपने तौर तरीकों के बेहद आदी हो चुके हैं या किसी कारण से क्षुब्ध हैं। जहाँ संवाद की कोई सम्भावना न हो, और कुछ प्रभावशाली लोग अड़ियल रुख अपना रहे हों, वहीं प्रमुख की भूमिका और संवाद को निर्मित करने तथा उसको संरक्षित करने का उसका तरीका महत्वपूर्ण हो जाते हैं। विकल्पों को संवाद के लिए खुला रखना जरूरी है। यह सन्दर्भ पर निर्भर करता है कि स्कूल प्रमुख की तरह आप प्रातःसभा को निरस्त करने का अन्तरिम निर्णय लेते हैं या प्रार्थना और सामूहिक गान के बिना सभा करवाते हैं। इस चर्चा से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भले ही प्रमुख के विचार में सभाएँ अनावश्यक या समय बर्बाद करने वाली हों, या कि पढ़ाई के विषयों पर स्कूल को अधिक समय देने की जरूरत हो, इन मुद्दों पर दूसरों के विचार सुनना भी उसके लिए महत्वपूर्ण होता है।

स्कूल नेतृत्व के स्वरूप पर 'केन्द्रीय' व्यक्ति के काम करने के तरीके का प्रबल प्रभाव पड़ता है और जैसा हमने पहले कहा, वह तरीका उसकी परिस्थितियों से भी, यदि निर्धारित नहीं तो प्रभावित जरूर होता है। स्कूल की सन्दर्भ–परिस्थितियों के साथ ही उसमें कैसे शिक्षक हैं यह भी महत्वपूर्ण है। जब आप कोई स्कूल खड़ा करते हैं, तो आप शिक्षकों को चुन सकते हैं, तैयार कर सकते हैं और उनके काम को व्यवस्थित कर सकते हैं। उनके साथ संवाद और उसकी प्रक्रियाएँ निर्मित करना भी सम्भव होता है। पर जब आप किसी ऐसी संस्था में जाते हैं जो अपने जमे–जमाए तौर तरीकों से चल रही होती है तब आप अपनी भूमिका कैसे तय करेंगे? उदाहरण के लिए, मान लें कि किसी स्कूल में अधिकांश शिक्षक न तो स्वयं विविध प्रकार की किताबें पढ़ते हैं और न ही बच्चों को उनको पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। नेतृत्व दल भी मानता हो कि शैक्षणिक पुस्तकों के अलावा अन्य पठन सामग्री व्यर्थ है क्योंकि वह परीक्षा परिणामों को बेहतर बनाने में सहायक नहीं होती, तब स्कूल प्रमुख क्या कर सकता है? इस प्रकार के वातावरण में इस बात की बहुत सम्भावना है कि स्कूल में बच्चों को पढ़ने के लिए प्रेरित करने की न तो कोई सामर्थ्य होगी, न ही व्यवस्थाएँ और शायद न ही कोई सुविधाएँ होंगी। तब प्रमुख के सामने ये प्रश्न उठ खड़े होंगे, ''मैं कैसे आगे बढ़ूँ? क्या मैं तत्काल एक पुस्तकालय के लिए आग्रह करूँ, या कुछ समय के लिए पुस्तकालयों के बारे में भूल जाऊँ, या विचार–विमर्श की प्रक्रिया के लिए प्रयास करूँ? क्या कम उत्पादक लोगों के सामने एक उत्पादक व्यक्ति का उदाहरण देना सार्थक और प्रेरक होगा या वह उन्हें नाराज, कुँठित और चिड़चिड़ा बनाएगा?''

कई अन्य उदाहरणों पर विचार किया जा सकता है। हर मामले में कुछ विकल्प सामने आएँगे। विचार करने के बाद चुने गए विकल्पों और उनकी आवश्यकताओं के बारे में सहयोगियों से परामर्श करना होगा। स्कूल को ऐसी समझ विकसित करना होगी जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया पर आम सहमति हो। सही रणनीति की पहचान करने के लिए उचित तर्क निर्मित करना होंगे। यह सब वास्तविक सम्भावनाओं के सन्दर्भ में देखा जाना पड़ेगा और यह भी हो सकता है कि सबके द्वारा चुनी गई कोई रणनीति सभी परिस्थितियों में श्रेष्ठ रणनीति न हो।

परन्तु कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जो आमूल परिवर्तनों की माँग करती हैं। उदाहरण के लिए, मान लें कि स्कूल के नए नेतृत्व को लगता है कि बच्चों को समुचित आदर और मूल्य नहीं दिया जाता। यदा–कदा बच्चों को जानबूझकर परेशान किया जाता है, डाँटा जाता है और कभी–कभी पीटा भी जाता है। तब हम क्या करना चाहेंगे? क्या आप ऐसी रणनीति की तलाश करेंगे जो चर्चाओं में बहुत समय बर्बाद करेगी, या आप तुरन्त इस घोषणा से शुरुआत करेंगे कि यह कतई बरदाश्त नहीं होगा और इसकी छूट नहीं दी जा सकती। या मान लें, कि ऐसी स्थिति है जहाँ आपकी टीम में से कुछ शिक्षक बच्चों को उनसे घर पर पढ़ने के लिए मजबूर करते हैं? आप जो भी कदम उठाएँगे पारस्परिक समझ विकसित होने के लिए संवाद की जरूरत पड़ेगी, पर समय बर्बाद करने के बजाय क्या सीधे–सीधे यह नहीं समझाया जा सकता कि इस तरह के आचरण की अनुमति नहीं दी जा सकती?

हम ऐसे कई और उदाहरण सोच सकते हैं, पर इतना तो स्पष्ट है कि उत्तर सरल नहीं होते, ऐसी स्थितियों में अलग–अलग लोग अलग–अलग विकल्प चुनते हैं, और चुनेंगे तथा उन्हें क्रियान्वित करेंगे। यह भी स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण विचारणीय मुद्दा केवल सन्दर्भ ही नहीं होता बल्कि स्कूल प्रमुख का उस सन्दर्भ की व्याख्या करने का तरीका भी होता है। और यह व्याख्या हमारी धारणाओं और क्षमताओं पर आधारित होती है।

निष्कर्ष

हमने यहाँ इस बारे में बात की है कि केन्द्रीय व्यक्ति से क्या अपेक्षाएँ होती हैं और वह क्या कर सकता है, और हमने उन सीमाओं के बारे में भी बात की है जिनके भीतर उसे काम करना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि अनेक अन्य संगठनों की तुलना में स्कूल प्रमुख पर अनेक बन्धन होते हैं। वे बन्धन 'उत्पाद' या 'उत्पादन' की प्रकृति और उसकी गुणवत्ता की परिभाषा के कारण होते हैं। वे समरूपता पर जोर देने और सभी को पसन्द आने वाले उत्पाद का निर्माण करने के प्रयास के लिए भी बाध्य होते हैं। इसके फलस्वरूप, अभिमतों में टकराव होना और अलग–अलग अध्यापकों और स्कूल के द्वारा प्रक्रियाओं के बारे में आलोचनाएँ होना स्वाभाविक है। एक प्रमुख से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने स्कूल के ऐसे शिक्षकों, जो नए विकल्प चुनने और पहल करने का प्रयास करते हैं, के लिए ढाल का काम करे और उनकी बाहरी ताकतों के निर्धारण, नियंत्रण और लालफीताशाही से रक्षा करे। इसके अलावा उसे उन्हें भीतरी ताकतों से भी बचाना पड़ता है जब दृष्टिकोणों में मतभेद के परिणामस्वरूप कड़वाहट के कारण कार्यक्रमों को विफल बनाने के प्रयास किए जा

सकते हैं। एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी संवाद को मजबूत करना और सबके विचार सुनने और उचित बातों को स्वीकार करने का वातावरण बनाने की होती है। प्रमुख को अपने विचार प्रस्तुत करने और दूसरों के विचार सुनने में समर्थ होना जरूरी है। इसलिए उसे बाहरी अपेक्षाओं को पूरा करना पड़ता है, बाहरी और भीतरी तत्वों से संवाद बनाना पड़ता है और आन्तरिक संवाद की प्रक्रियाएँ स्थापित करना पड़ती हैं। जाहिर है कि ऐसे बड़े तंत्रों में यह करना कम सम्भव है जहाँ प्रमुख की भूमिका एक अफसरनुमा प्रबन्धक की हो जाती है जिसे निर्धारित प्रक्रियाओं और निर्देशों का सभी के द्वारा पालन करवाना सुनिश्चित करना पड़ता है।

नेतृत्व के बारे में सदा कही जाने वाली सभी उक्तियों पर भी थोड़ा विचार करें। प्रमुख को आगे रहकर नेतृत्व करना चाहिए और दूसरों के द्वारा अनुकरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए; प्रमुख को अन्य लोगों के विकास में बाधा नहीं बनना चाहिए; उसे लोगों के बारे में जानकारी का समुचित उपयोग करना चाहिए, आदि–आदि। ये सिर्फ थोड़े से उदाहरण हैं लेकिन इनमें भी कुछ भ्रम और अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं। ऐसे सुझाव दिए जाते हैं कि प्रमुख को सबसे सक्षम और सबके प्रति संवेदनशील होना चाहिए ताकि सभी के द्वारा उसे इस भूमिका के लिए सबसे उपयुक्त माना जाए, या कि उसमें पहल करने और जोखिम उठाने का साहस होना चाहिए, उसे दोष अपने ऊपर लेना और श्रेय सहयोगियों को देना चाहिए, और साथ ही उसे निष्पक्ष और पारदर्शी होना चाहिए। लोग तर्क दे सकते हैं कि सबको प्रोत्साहित करने ओर अवसर देने के लिए उसे सचमुच में दूसरों की काबिलियत का आदर करने में समर्थ होना चाहिए। उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि अनेक क्षेत्रों में दूसरे उससे बेहतर कर सकते हैं।

स्पष्ट है कि इन सभी आवश्यकताओं के पक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं और उनके औचित्य को सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए ठीक–ठीक यह कह सकना कठिन है कि नेतृत्व के लिए किन बातों की जरूरत होती है और उसे क्या करना चाहिए। नेतृत्व दल की भूमिका तथा उसका चयन और विकास दोनों ही सन्दर्भगत और संस्था विशेष के अनुसार होते हैं।

अपने जीवन में हम सभी ऐसे समूहों का हिस्सा रहे हैं जिन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। ऐसी स्थितियों में जहाँ लोगों को इकट्ठे काम करना होता है, चाहे काम कितना भी सामान्य क्यों न हो, संवाद को सुनिश्चित करने की प्रक्रिया और अधिक से अधिक गुणवत्तापूर्ण योगदान करने के लिए प्रेरित करना आवश्यक होता है। इन प्रक्रियाओं में भी एक अनौपचारिक नेतृत्व बन जाता है जिसे बाकी लोग स्वीकार कर लेते हैं। नेतृत्व की ऐसी भूमिकाएँ लचीली होती हैं और कार्य के दौरान एक व्यक्ति से हटकर दूसरे के पास जा सकती हैं। जो व्यक्ति यह भूमिका निभाएगा उसकी न तो कोई पक्की पहचान होती है, न उसका चुनाव होता है।

नेतृत्व के बारे में बहुत–सी आम धारणाएँ और वक्तव्य हमेशा व्यावहारिक नहीं होते। उन्हें सन्दर्भ के अनुसार संशोधित करना होता है। खासतौर पर दल के नेतृत्व सम्बन्धी सामान्य व्यक्तित्व प्रशिक्षण में अक्सर दोहराई जाने वाली उक्ति कि 'नायक या नेता जन्मजात होते हैं' खतरनाक है। यह मनमाने निर्णय लेने और/या गैर जिम्मेदारी को बढ़ावा देती है। दूसरी ओर, यह नई प्रचलित धारणा, कि एक बार के प्रशिक्षण सत्रों से नायक या नेता बनाए जा सकते हैं, भी उतनी ही मिथ्या है। वास्तव में, ऐसा प्रतीत होता है कि नायक ऐसे सन्दर्भों में उभरकर सामने आते हैं जिनमें पर्याप्त अनुकूल तत्व होते हैं। वे विशेष सन्दर्भ से उपजते हैं।

हमें नेतृत्व पर एक गतिविधि के रूप में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए – जीवन के किसी भी क्षेत्र के किसी नागरिक की कुछ करने के लिए लोगों की संगठित करने की गतिविधि। हमारे मामले में यह एक स्कूल को संचालित करना है। लेकिन सामाजिक रूप से उपयोगी गतिविधि क्या है, और एक अच्छा स्कूल कैसा हो, इन बातों पर बहस होती रहेगी।

References

1. Right of children to Free and Compulsory Education Act 2009.
2. The elementary Education System In India, Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics, Rashmi Sharma, Vimala Ramachandran, 2009, Routledge
3. Quality Education Programme, Baran- A Baseline Study, Vidya Bhawan Education Resource Centre, Udaipur, Rajashtan
4. (Neelima Khetan, Seva Mandir, Unpublished)

प्रीति मिश्रा 2008 से विद्या भवन ऐजुकेशन रिसोर्स सैन्टर के साथ काम कर रही हैं। थोड़े समय के लिए उन्होंने स्कूल ट्रांसफोरमेंशन प्रोजेक्ट के अन्तर्गत विद्या भवन स्कूलों में भी काम किया – जिसने स्कूलों से ज्यादा उनके स्वयं के विचारों को प्रभावित किया। उनसे preeti@vidyabhawan.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

हृदयकांत दीवान (हार्डी) एकलव्य के संस्थापक समूह के एक सदस्य हैं और वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के संगठन सचिव एवं शैक्षणिक सलाहकार हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न पक्षों पर पिछले 35 वर्षों से कार्य कर रहे हैं। विशेष रूप से वे शैक्षणिक नवाचार तथा विभिन्न राज्यों की शैक्षणिक व्यवस्थाओं में संशोधन के प्रयासों से जुड़े रहे हैं। उनसे vbsudr@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

03 स्कूल–प्रधान : शैक्षणिक विद्वान या प्रशासक?

गुरुमूर्ति काशीनाथन

''बदलाव का सामना करने की, उससे सीखने की और विद्यार्थियों को उससे सीखने में मदद करने की शिक्षकों की क्षमताएँ भविष्य के समाजों के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण साबित होंगी।''[1]

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कार्यस्थलों के विस्तृत और जटिल होते जाने के साथ, फ्रेडरिक टेलर ने कर्मचारियों के एक नए वर्ग की कल्पना की जिसकी प्राथमिक जिम्मेदारी किसी भी जगह कार्यरत मनुष्यों (श्रमिकों) तथा भौतिक संसाधनों से अधिकतम उत्पादन हासिल करना थी। इससे 'वैज्ञानिक प्रबन्धन' का जन्म हुआ। उत्तरोत्तर, प्रबन्धन को ज्ञान और कार्यपद्धति का मिश्रण माना जाने लगा है, एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें योजना, संगठन, अधिकारियों की नियुक्ति, निदेशन और नियंत्रण शामिल रहते हैं।[2] अब ऐसे विशाल स्कूली तंत्र बन गए हैं, जो जटिलताओं से भरे हैं, जिनसे निपटने के लिए स्कूली और व्यवस्थागत, दोनों ही स्तरों पर भी प्रशासकीय या प्रबन्धन गतिविधियों में काफी ऊर्जा लगती है।[3] अतः ऐसा माना जाता है कि 'स्कूल के प्रधान' के पास ये प्रबन्धन कार्य करने के कौशल होना जरूरी हैं – स्कूली योजनाएँ कैसे बनाना, फिर उन्हें क्रियान्वित करने के लिए जरूरी संसाधन जुटाना, और फिर अगले सत्र के लिए क्रियान्वयन और प्रतिक्रियाओं का आकलन करना। इन कौशलों के समूह को 'शैक्षणिक' कार्यों जैसे बच्चों को पढ़ाना, सीखना, अध्यापन की तैयारी, शिक्षकों को सहयोग देने जैसे कार्यों से अलग एक पृथक विशेषज्ञता के रूप में देखा जाता है। कई स्कूलों को खराब प्रबन्धन के कारण परेशानी उठाना पड़ती है जिससे संस्था की कार्यकुशलता प्रभावित होती है। ठोस दीर्घकालिक व अल्पकालिक (वार्षिक) योजनाओं के अभाव में शिक्षकों की एकाग्रता और लक्ष्य प्रभावित होते हैं, खराब व्यवस्था से क्रियान्वयन प्रभावित होता है, कमजोर निगरानी व फीडबैक प्रणालियों का असर स्कूल का अपने ही कार्यों/अनुभवों से हासिल होने वाली सीखों पर पड़ता है जिससे फिर नियोजन प्रभावित होता है। अतः प्रत्येक स्कूल के पास एक अच्छा प्रबन्धक होना जरूरी है।

हम यह तो मानते हैं कि किसी भी स्कूल के संचालन में प्रबन्धन बहुत जरूरी होता है। पर यह अलग सवाल है कि क्या किसी स्कूल–प्रमुख के लिए ऐसा प्रबन्धक भर होना पर्याप्त है जिसे स्कूल के संचालन के शैक्षणिक पहलुओं में बहुत गहराई से भागीदार होने की जरूरत नहीं हो। जिस तरह एक शिक्षक कोई 'मामूली तकनीशियन'[4] नहीं होता जो कहीं और तैयार किए गए लक्ष्यों और पद्धतियों को लागू भर करता हो, उसी तरह एक स्कूल–प्रमुख की भूमिका सिर्फ स्कूल के बाहर तैयार कर ली गई योजनाओं को क्रियान्वित करने की नहीं होती। बल्कि स्कूल के सदस्यों के बीच स्कूल के उद्देश्य के बारे में एक साझा दृष्टिकोण विकसित करने की और उसकी प्राप्ति के लिए सबकी सामूहिक ऊर्जा को लगाने में मदद करने की होती है। स्कूल एक अनोखी सामाजिक संस्था होती है। यह सांस्कृतिक संसाधनों के पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरण के माध्यम से, भविष्य के स्वप्नों के लिए सर्वांगीण स्तर पर किए जाने वाले निदेशित किन्तु विकासपरक बदलाव का प्राथमिक उपकरण है। शैक्षणिक लक्ष्यों में ऐसे नागरिक तैयार करना शामिल होता है जो अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति सजग हों, और जो एक–दूसरे के तथा प्रकृति के साथ तालमेल के साथ रहें। स्कूल–प्रमुख को इस तरह के स्कूली दर्शन की गहरी समझ होना जरूरी है ताकि वह स्कूल की गतिविधियों की दिशा तय कर सके।

दूसरे, किसी भी स्कूल के लिए यह जरूरी है कि उसका अपने निकटतम लोगों व बृहद समाज के साथ गहरा नाता हो। हमारे स्कूल अकसर अपने परिवेश से काफी कटे से रहते हैं। यह एक प्रमुख कारण है कि कई बच्चे बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं क्योंकि उन्हें अपने जीवन में शिक्षा का कोई उपयोग नहीं दिखाई देता। आधुनिक समाज की जटिलताओं के चलते तो यह और भी जरूरी हो गया है कि स्कूलों को बृहद सामाजिक सन्दर्भ के साथ जोड़ा जाए। तीसरे, शिक्षा एक प्रायोगिक प्रक्रिया है और शिक्षक बच्चे को उसके दिमाग के भीतर ज्ञान का निर्माण करने में मदद करता है। चूँकि 'संस्कृति में समाहित करना' ऐसे ज्ञान–निर्माण का प्रमुख अंग होता है, अतः यह जरूरी है कि शिक्षक व्यक्तिगत उदाहरण के द्वारा

> *चूँकि 'संस्कृति में समाहित करना' ऐसे ज्ञान–निर्माण का प्रमुख अंग होता है, अतः यह जरूरी है कि शिक्षक व्यक्तिगत उदाहरण के द्वारा किसी नैतिक उद्देश्य और परिधि को स्पष्ट करे। उदाहरण के लिए, यदि किसी बच्चे को लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ सिखाना हो, तो यह आवश्यक है कि शिक्षक निरन्तर अपने आचरणों द्वारा उनका प्रदर्शन करे। इसलिए यह आवश्यक है कि स्कूली–प्रधान का आचरण शिक्षकों के लिए अनुकरणीय हो।*

किसी नैतिक उद्देश्य और परिधि को स्पष्ट करे। उदाहरण के लिए, यदि किसी बच्चे को लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ सिखाना हो, तो यह आवश्यक है कि शिक्षक निरन्तर अपने आचरणों द्वारा उनका प्रदर्शन करे इसलिए यह आवश्यक है कि स्कूली–प्रधान का आचरण शिक्षकों के लिए अनुकरणीय हो। इसलिए यह जरूरी है कि प्रत्येक स्कूली प्रमुख को शिक्षा के दर्शन, शिक्षा के समाजशास्त्र और शैक्षणिक मनोविज्ञान के 'बुनियादी क्षेत्रों' का अच्छा–खासा ज्ञान हो ताकि वह स्कूल की सोच को सार्थक रूप दे सके। यदि स्कूल–प्रमुख सिर्फ प्रबन्धक हो, और यह तमाम समझ दूसरों से प्राप्त करने की कोशिश करे, तो यह खतरा है कि प्रशासन से उपजने वाली प्राथमिकताएँ इन बुनियादी क्षेत्रों से निकलने वाले लक्ष्यों से कहीं ज्यादा महत्व न हासिल कर लें।

बुश और ग्लोवर, जिन्होंने शैक्षणिक नेतृत्व और प्रबन्धन की परिभाषाओं का अध्ययन किया है, कहते हैं: ''नेतृत्व अपने साथ के लोगों को प्रभावित करने की प्रक्रिया है जो वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर ले जाती है। सफल नायक व्यक्तिगत और व्यावसायिक मूल्यों के आधार पर अपने स्कूलों के लिए सोच विकसित कर लेते हैं। वे अपने दृष्टिकोण को हर मौके पर स्पष्ट करते हैं और अपने साथी कर्मचारियों व भागीदारों पर प्रभाव डालते हैं ताकि वे भी उनके इस दृष्टिकोण को अपनाएँ। स्कूल के दर्शन, उसके ढाँचे और उसके भागीदार इस साझा स्वप्न को पूरा करने के लिए तैयार रहते हैं।''[5]

'लीडिंग टीचिंग एण्ड लर्निंग इन द प्राइमरी स्कूल'[6] में रोज़मेरी वैब स्कूली नेतृत्व के तीन प्रतिरूप सुझाती हैं – शिक्षाप्रद नेतृत्व, निदेशात्मक नेतृत्व और शैक्षणिक नेतृत्व। जहाँ पहले, 'शिक्षाप्रद नायकों' ने खुद को अपने स्कूलों के भीतर नियमित अध्यापन में व्यस्त रखा, वहीं केन्द्रीकृत रणनीतियों (सरकारी योजनाएँ) के क्रियान्वयन से सम्बन्धित काम का कहीं अधिक बोझ होने के कारण अब यह मुमकिन नहीं है। 'निदेशात्मक नेतृत्व' का प्रतिरूप केन्द्रीकृत रणनीतियों के क्रियान्वयन पर ध्यान केन्द्रित करता है, ताकि पूर्व–निर्धारित मानदण्डों/मानकों की ओर जाया जा सके। परन्तु, वह ऐसा ''नैतिक उद्देश्य, सम्बन्ध–निर्माण और ज्ञान–रचना''[7] प्रदान नहीं कर पाता जो शैक्षणिक नेतृत्व शैक्षिक उद्देश्यों व सन्दर्भों की तथा अपने स्कूल की गहरी समझ विकसित पैदा करके प्रदान करता है। इससे उन्हें ''अपने स्कूलों के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए मध्यमार्गी माँगों को अपनाने का या उन्हें मानने से मना कर देने का मौका मिल जाता है।''

> *शैक्षणिक संस्थाओं के परिवेश में, नेतृत्व का कहीं अधिक विचारशील, चिन्तनशील और ज्ञान–आधारित होना जरूरी है (शैक्षणिक उद्देश्यों और कार्यविधियों की गहरी साझा समझ ही एक साझे दृष्टिकोण का आधार बनाती है)। इसका अर्थ है कि स्कूली नेतृत्व को भी किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित होने के बजाय विकेन्द्रित और सहयोगपूर्ण होना चाहिए।*

ध्यान दें, कि व्यावसायिक प्रबन्धन के लिए 'साझा दृष्टिकोण' का विचार अपेक्षाकृत नया और अनूठा है; व्यावसायिक संगठनों के दृष्टिकोण आमतौर पर वरिष्ठ प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं जो प्रमुख रूप से शेयरधारकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं; इस सोच को आकार देने में उसके साधारण कर्मचारियों की भूमिका न के बराबर होती है। निदेशात्मक नेतृत्व केन्द्रीकृत सोच की इस व्यावसायिक प्रबन्धन पद्धति के समानान्तर ही चलता है। जबकि, शैक्षणिक संस्थाओं के परिवेश में, नेतृत्व का कहीं अधिक विचारशील, चिन्तनशील और ज्ञान–आधारित होना जरूरी है (शैक्षणिक उद्देश्यों और कार्यविधियों की गहरी साझा समझ ही एक साझे दृष्टिकोण का आधार बनाती है)। इसका अर्थ है कि स्कूली नेतृत्व को भी किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित होने के बजाय विकेन्द्रित और सहयोगपूर्ण होना चाहिए।[8] इससे हमारा यह मतलब नहीं है कि स्कूली–प्रमुख को सभी विषयों या विषय–शाखाओं का विशेषज्ञ होना जरूरी है। हो सकता है कि यह एक व्यक्ति के लिए सम्भव न हो, पर आवश्यक यह है कि उसे बुनियादी क्षेत्रों की गहरी समझ होना चाहिए, जैसे शैक्षणिक उद्देश्य, समाज में तथा संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में स्कूलों की भूमिका, और साथ ही किसी भी एक अध्ययन–शाखा का ज्ञान। इससे स्कूल–प्रमुख स्कूल की जरूरतों को समझ पाता है, व 'स्वप्न' और 'मौजूदा हकीकत' के बीच के 'सृजनशील तनाव'[9] को इस ढंग से थामे रख पाता है जिससे कि वह व्यक्तिगत रूप से सक्षम और कार्यकुशल रह सके और अपने स्वप्न को साकार करने के रास्ते में आने वाली समस्याओं को सुलझाने में अपने साथियों की मदद भी कर पाए।

भारत में अधिकांश विवेकाधीन व्यय/योजना निवेश केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं के माध्यम से होता है, जैसे डीपीईपी (जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम), एसएसए (सर्व शिक्षा अभियान)/आरएमएसए (राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान), मध्यान्ह भोजन आदि। इन योजनाओं के साथ बहुत विस्तृत व सख्त 'कायदे' जुड़े होते हैं, और स्कूल प्रमुख (और साथ ही राज्य, जिले, ब्लॉक और क्लस्टरों के प्रमुख भी) पूर्व–निर्धारित कार्यक्रमों को लागू करने वाले बन जाते हैं। दूसरे, भारत में राज्यों के अन्दर शिक्षा व्यवस्था का प्रमुख आमतौर पर भारतीय प्रशासनिक सेवा का कोई

अधिकारी होता है और अकसर ही वह शिक्षा–क्षेत्र का विशेषज्ञ नहीं होता। उसका ध्यान आमतौर पर गुणात्मक/मूल्यवान शैक्षिक लक्ष्यों की बजाय विस्तृत प्रशासनिक लक्ष्यों पर ज्यादा होता है। 'प्रबन्धन' पर बढ़ते जोर ने भी स्कूली प्रमुख की मुख्यतः एक प्रबन्धक होने की धारणा को बढ़ावा दिया है। इन कारकों ने सम्भवतः 'निदेशात्मक नेतृत्व' को भारतीय स्कूलों का कायदा बना दिया है। स्कूल प्रमुख रजिस्टर बनाए रखने, एमआईएस (मासिक आय योजनाएँ) के बारे में जानकारियाँ देने में व बीईओ (ब्लॉक शैक्षिक कार्यालय) और 'ऊपर के' अफसरों को ताजातरीन सूचनाएँ देने, निर्माण–कार्यों का निरीक्षण करने, मध्यान्ह–भोजन के प्रचालन तंत्र का प्रबन्ध करने, अनगिनत नियम–कायदों के अनुरूप क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने, लेखा–परीक्षणों का उत्तर देने, ब्लॉक स्तरीय सभाओं में भाग लेने इत्यादि कामों में ही लगा रहता है। उसके पास न तो अध्यापन (शिक्षाप्रद नेतृत्व) के लिए समय रह जाता है और न ही शिक्षक–सहायता प्रक्रियाओं में पूर्णरूपेण भागीदारी करने का व स्थानीय जरूरतों व बृहद शैक्षणिक लक्ष्यों पर आधारित कसौटियों को समझने का ही समय रहता है। और जाहिर है उसे न तो खुद अपने अध्ययन व समझ को बढ़ाने का समय मिलता है और न ही शैक्षणिक–प्रमुख के रूप में व्यावसायिक विकास के लिए ही समय मिल पाता है।

अन्य स्तरों पर नेतृत्व के लिए भी यह बात उतनी ही सच है। डाइट (जिला शिक्षा व प्रशिक्षण संस्थान) प्राचार्य या बीआरसी (ब्लॉक संसाधन केन्द्र) संयोजक मूल रूप से शैक्षिक नायक ही होते हैं। फिर भी, शिक्षण के लिए तमाम योग्यताएँ होने के बावजूद इनमें से कई का नियमित शैक्षिक कार्यों – अध्ययन, लेखन, समीक्षात्मक चिन्तन, चिन्तनशील व्यवहार, संवाद/तर्क–वितर्क आदि – से सम्बन्ध टूट जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में विशेषज्ञता (एनपीई अर्थात राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने एक पृथक आईईएस यानी भारतीय शैक्षणिक सेवा काडर के माध्यम से इसकी माँग की है) न होने की वजह से कई स्कूल–प्रमुख स्कूलों व स्कूली व्यवस्था में ऐसी शैक्षिक संस्कृति की रचना को सहायता देने में असमर्थ हो जाते हैं। शिक्षा व्यवस्था एक अस्तित्वगत दुविधा में फँसी हुई है – क्या स्कूल और अन्य सहायक संस्थाएँ शैक्षणिक संस्थाएँ हैं जहाँ स्वायत्तता, शिक्षा को प्रमुखता, शैक्षणिक विशेषज्ञता, विचार–विमर्श और चिन्तन को जगह देना जरूरी होता है और दी जाती है; या, फिर वे कोई भी अन्य सरकारी विभाग जैसे हैं, जहाँ उनका प्रमुख उद्देश्य बस आज्ञापालन करना, सामान्यज्ञ (सभी पदों/परिस्थितियों के लिए एक ही व्यक्ति को उपयुक्त मानना) होना, आर्थिक लक्ष्यों व पूर्व–निर्धारित समय–सीमाओं को हासिल करना भर होता है। हालाँकि कर्नाटक जैसे राज्य में पृथक शैक्षणिक काडर (केईएस) है, लेकिन शैक्षणिक सहयोगकर्ताओं के पास निरन्तर सीखते रहने के लिए कोई ढाँचागत सम्भावनाएँ नहीं हैं। डाइट अपनी प्रमुख भूमिका एससीईआरटी (राज्य शैक्षणिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद) में तैयार होने वाले प्रशिक्षण इकाइयों के 'कार्यक्रम क्रियान्वयक' के रूप में देखते हैं, न कि अपने शिक्षकों की ज्ञान–सम्बन्धी जरूरतों को आँकने व उसमें सहायता देने की सामूहिक जिम्मेदारी उठाने वाले शैक्षिक विभाग के अंग के रूप में।

शिक्षक की 'सरकारी सेवक' रूपी पहचान पर जोर देते हुए, स्कूल–प्रमुख और शिक्षा विभाग के अधिकारी इस समस्त व्यवस्था में शिक्षक के एक 'मामूली तकनीशियन' होने की धारणा को ही प्रचारित करते हैं। जिला/ब्लॉक स्तरों पर अनुभवी अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे मुख्य रूप से केन्द्र व राज्य स्तर पर तैयार किए गए कायदों का पालन करें, बजाय इसके कि वे अपने साथियों के साथ स्थानीय कायदे तैयार करने में सहयोग दें। निदेशात्मक नेतृत्व में शैक्षिक पहलुओं पर दिए जाने वाले ध्यान का दायरा भी सीमित हो जाता है। पूरी कार्यपद्धति का इकलौता आधार सरकारी आदेश होते हैं, ऊपर की ओर होने वाली जवाबदेही बच्चों, पालकों और समुदाय के प्रति होने वाली जवाबदेही का व इस व्यवसाय की अपेक्षाओं का स्थान ले लेती है। यह प्रतिरूप स्कूलों को स्वायत्तशासी अध्ययन संस्थाएँ बनने से रोक देता है, जो कि शैक्षणिक उत्कृष्टता के लिए जरूरी है, भले ही निदेशात्मक नेतृत्व 'पर्याप्त अनुरूपता न होने' को 'शिक्षा के खराब स्तर' का कारण मानता हो। नीति (नीति शैक्षणिक सोच का दर्पण होती है) के स्तर पर, हम त्वरित और अक्सर असम्बद्ध बदलाव देखते हैं, जो कभी–कभी नेतृत्व में बदलाव और 'नीति उधार लेने' के रूप में दिखाई देता है, एक ऐसी कार्यप्रणाली जहाँ नीतियों को, बिना उनकी प्रासंगिकता समझे, अन्य स्थानों से उठाकर लागू कर दिया जाता है। शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर मूल्यवान वार्तालाप ('संवाद') किए जाने से 'नीति–व्यवहार' में सम्बन्ध वाले एक विकासमूलक प्रतिरूप को सुनिश्चित किया जा सकता है। कार्यक्षेत्र से प्रासंगिक व निरन्तर प्रतिपुष्टि (फीडबैक) के लिए व्यवस्था के भीतर विकेन्द्रीकरण और शैक्षिक पहलुओं को प्राथमिकता देना जरूरी है, जो कि निदेशात्मक नेतृत्व नहीं कर पाता।

दुर्भाग्यवश, हम उत्तरोत्तर निदेशात्मक नेतृत्व की तरफ बढ़ते प्रतीत हो रहे हैं। सर्वांगीण सुधार हेतु 'व्यावसायिक प्रबन्धन प्रतिरूपों' पर वर्तमान समय में दिया जाने वाला जोर, जिसमें आकलन–आधारित/मात्रा–आधारित कार्यक्रमों, 'दृष्टिकोणात्मक समस्याओं को सुलझाने हेतु व्यक्तित्वगत कौशलों (सॉफ्ट स्किल्स) के निर्माण' इत्यादि बातों पर जोर दिया जाता है, हमारी शिक्षा व्यवस्था के समक्ष खड़ी समस्याओं की गहरी शैक्षिक प्रकृति की उपेक्षा कर देता है। यह भी एक वैश्विक परिदृश्य है जहाँ नितान्त सार्वजनिक प्रकृति की समस्याओं को प्रबन्धन क्षेत्र के समाधानों, जो

सम्भवत : व्यावसायिक दुनिया में कारगर रहे हों, के द्वारा सुलझाने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, हाल ही में, हर्स्ट पत्रिका की अध्यक्षा कैथलीन पी. ब्लैक को 'एक प्रबन्धक के रूप में उनकी असाधारण योग्यताओं'[10] और 'विपणन से जुड़े साहस' के फलस्वरूप न्यूयॉर्क सिटी स्कूल सिस्टम का नया चांसलर (कुलाधिपति) नियुक्त कर दिया गया। इस पर खेद व्यक्त करते हुए जिरू ने लिखा, ''इस दृष्टिकोण में, प्रबन्धन को किसी भी तरह के विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण नेतृत्व की धारणा से पृथक कर दिया जाता है और शिक्षा व सार्वजनिक हित के बीच के सम्बन्ध की जगह शिक्षा के व्यावसायिक प्रतिरूप को लागू कर दिया जाता है जो सामाजिक दृष्टिकोण को व ऐसे किसी भी दृष्टिकोण को खारिज कर देता है, जिसे सत्ता के सर्वथा अपरिष्कृत रूपों, उपकरणात्मक तर्काधार और गणितीय उपयोगिता द्वारा परिभाषित नहीं किया गया हो,... जो सार्वजनिक शिक्षा से सार्वजनिक मूल्यों, शासन के लोकतांत्रिक तरीकों, शिक्षक की स्वायत्तता, समीक्षात्मक सोच और स्कूली शिक्षा द्वारा बच्चों को समालोचनात्मक ढंग से सोचने वाले सक्रिय नागरिक बनाने वाली सोच के अवशेषों को भी निकाल कर बाहर कर देता है।''

आखिर में, प्रबन्धन और अकादमिक (शैक्षणिक) कोई 'यह या वह' वाला मुद्दा नहीं है, प्रबन्धकीय जिम्मेदारियाँ महत्वपूर्ण होती हैं और प्रबन्धकीय कौशल की स्कूल के नेतृत्व के लिए जरूरत होती है। परन्तु, अध्यापन और शिक्षक–सहयोग की पेचीदगियों की तुलना में यह बहुत मामूली बात है। किसी भी शैक्षणिक संगठन में, स्कूल प्रमुख द्वारा (सामूहिक रूप से) तैयार किए गए लक्ष्य स्कूल के साझे दृष्टिकोण को दर्शाते हैं, और प्रशासनिक कौशल भले ही कार्यकुशलता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो, पर वह अपने आप में स्कूल के उद्देश्य को प्रासंगिकता या अर्थ प्रदान नहीं करता। ऐसा 'शिक्षा–केन्द्रित नेतृत्व'[11] सतत व सहयोगपूर्ण तथा विशिष्ट व सर्वांगीण शिक्षा में जड़ें जमाए रहता है।

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के 'शिक्षा प्रबन्धन' प्रकार्य के प्रमुख के रूप में, मैं सोचा करता था कि 'शिक्षा प्रबन्धन' विशेषज्ञों को शिक्षा की बहुत गहरी समझ होने की जरूरत नहीं है। मैं यह भी सोचता था कि उनके लिए प्रबन्धन औजारों या उपकरणों जैसे स्प्रैडशीटों (कार्य–विवरणिकाओं), जो जटिल नियोजन व निरीक्षण को आसान काम बना देती हैं, में विशेषज्ञता होना ही काफी है। किन्तु अब मैं शैक्षणिक नेतृत्व व प्रबन्धन (ईएलएम) को शिक्षा के उपक्षेत्र के रूप में परिभाषित करता हूँ, जो नेतृत्व व प्रबन्धन के सिद्धान्तों को शैक्षणिक लक्ष्यों व प्राथमिकताओं के आधार पर शैक्षणिक सन्दर्भों पर लागू करने की कोशिश करता है, जिसके लिए स्पष्ट शैक्षणिक दृष्टिकोण बहुत आवश्यक हैं।

मैं एक बार त्रिवेन्द्रम के एक बड़े सरकारी स्कूल में गया था, जिसमें दो प्रधानाध्यापक थे – जिनकी अलग–अलग शैक्षिक व प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ थीं। विश्वविद्यालयों के कुलपतियों व रजिस्ट्रारों की भूमिकाओं का स्वरूप भी अकसर इसी प्रकार का होता है, जहाँ रजिस्ट्रार प्रशासनिक पहलुओं का अधिकांश भार वहन करता है ताकि कुलपति शैक्षिक मामलों पर ध्यान दे सके। चूँकि, प्रशासनिक कार्यों का भार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, अतः शिक्षण व्यवस्था में सहयोग देने के लिए समर्थ प्रशासनिक व्यक्ति/व्यक्तियों को शामिल तो किया जाना चाहिए लेकिन उनकी भूमिका शैक्षिक नेतृत्व–दाताओं को सहयोग देने वालों की होना चाहिए बजाय इसके कि स्कूल प्रमुख को एक प्रबन्धक भर बना दिया जाए। इसके लिए हम सबकी तरफ से कहीं अधिक प्रयास और प्रतिबद्धता की जरूरत पड़ेगी, चूँकि शिक्षा का वास्ता हमारी बच्चों की जिन्दगियों और उनके भविष्य से है, जो कि एक तरह से मानवता का भविष्य है, तो इसके लिए हमें कम से कम यह तो करना ही पड़ेगा।

Footnote

1. FULLAN, MICHAEL G. 1993. Change Forces: Probing the Depths of Educational Reform, cited in http://education.stateuniversity.com/ pages/2483/Teacher-Learning-Communities.html
2. From the popular primer on business management Koontz and O'Donnel. Essentials of Management, An international perspective.
3. I have treated these two terms as largely synonymous for the purpose of this article comprising of activities that lie outside academic activities that form the core of the education system.
4. "The transmission model of education coupled with the drive for increased efficiency tends to foster the view of the teacher as a minor technician within an industrial process" - Reason and teaching by Israel Scheffler
5. In Early and Weindling, D. "From management to leadership, a changing discourse"
6. Rosemary Webb 2005. Educational Management Administration and Leadership, SAGE
7. Fullan 2001
8. In institutions of higher education, like universities, leadership positions such as Head of Department are sometimes assumed on rotational basis by faculty of the same experience/position
9. Peter Senge, Fifth Discipline

10. Henry A. Giroux. Business Culture and the Death of Public Education: The Triumph of Management Over Leadership. http://www.truth-out.org/business-culture-and-death-public-education-the-triumph-management-over-leadership65083
11. Southwest 2003

References

- Early, P. and Weindling, D.(2004) "A changing discourse: from management to leadership"
- Fullan, Michael G.(1995) 'The evolution of change and the new work of the educational leader
- Koontz and Weihrich, Essentials of Management, An international perspective. Tata McGraw-Hill. 10th Edition
- Quinn, Cheri. L. et al., "Preparing new teachers for leadership roles"
- Senge Peter, The Fifth Discipline: the Art and Practice of the Learning Organization. New York, Doubleday
- Sergiovanni, T. "Leadership and learning"
- Webb, Rosemary. "Leading teaching and learning in the primary school"

गुरुमूर्ति काशीनाथन आईटी फॉर चेन्ज के संस्थापक व निदेशक तथा सैन्टर फॉर लीडरशिप एण्ड मैनेजमेंट इन पब्लिक सर्विसेज़ (सी–लैम्पस) के संस्थापक हैं। वे ईएलएम पाठ्यक्रम के लिए चलाए जा रहे टीआईएसएस के एमए शिक्षा कार्यक्रम में अतिथि अध्यापक हैं। वे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, बंगलौर में शैक्षणिक नेतृत्व व प्रबन्धन विषय के लिए सलाहकार रहे हैं और इसी भूमिका में उन्होंने पॉलिसी प्लानिंग यूनिट, जो फाउण्डेशन तथा कर्नाटक सरकार के शिक्षा विभाग के बीच एक सहकार्य है, में भी कार्य किया। उनसे Guru@ITforChange.net पर सम्पर्क किया जा सकता है।

04 स्कूल एवं नेतृत्व : एक समीक्षात्मक दृष्टि

वेणु एन.

स्कूल और स्कूली तंत्र पेचीदा संगठन होते हैं जिनका कार्य सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से बहुत महत्वपूर्ण होता है। स्कूली तंत्रों से मिलने वाली शिक्षा के नतीजे विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास और कल्याण में भी योगदान करते हैं। फिर भी स्कूली शिक्षा के लक्ष्य आमतौर पर अस्पष्ट या अधूरे ढंग से उल्लिखित होते हैं और अकसर ही परिणामों का आकलन कर पाना मुश्किल होता है। उनके सामाजिक व आर्थिक महत्व को व्यापक रूप से स्वीकृत किया जाता है पर शिक्षा को फिर भी संसाधनों के अकाल से जूझना पड़ता है। भारत जैसे देशों में स्कूल ऐसे विशाल प्रशासनिक ढाँचों के अंग होते हैं जिनका स्वरूप वर्ग–आधारित व केन्द्रीकृत होता है। वे अत्यन्त जटिल परिवेशों में काम करते हैं जहाँ जबरदस्त सांस्कृतिक व सामाजिक–आर्थिक विविधता होती है। इस जटिलता व सामाजिक महत्व के संयोजन ने स्कूलों और शिक्षातंत्रों की प्रभावोत्पादकता के बारे में काफी चिन्ताएँ पैदा की हैं।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अपने परिणामों व कार्यविधियों, दोनों ही आधारों पर व्यापक रूप से घटिया स्तर का माना जाता है। भारत का बृहद शिक्षातंत्र अभाव की इस कहानी का एक अहम भाग है। स्कूलों के प्रदर्शन को सुधारने के लिए क्या करना पड़ेगा? ज्यादा असरदार अध्यापन व अध्ययन इसका सहज उत्तर है। बेहतर पाठ्यक्रम भी इस सुधार का एक हिस्सा होगा। इसी सन्दर्भ में कई टीकाकार स्कूलों के बेहतर प्रबन्धन और नेतृत्व के महत्व की बात करते हैं। वे दावा करते हैं कि जटिल प्रकृति के संगठनों का प्रबन्धन अच्छा होना बहुत जरूरी है। अच्छा नेतृत्व अच्छे प्रबन्धन का अभिन्न हिस्सा है।

यह आसानी से समझा जा सकता है कि ऊपर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण से स्वाभाविक रूप से ऐसी दलीलों को बल मिलता है जो स्कूली तंत्रों के भीतर नेतृत्व को बेहतर बनाने पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत की बात करती हैं। सार्वजनिक शिक्षा विभागों में यह एक पारम्परिक मान्यता है कि शिक्षक ''वरिष्ठता'' हासिल कर लेते हैं और फिर प्रधानाध्यापक तथा बीईओ (ब्लॉक शिक्षा अधिकारी) बन जाते हैं। सरकारी सेवा में बिताए गए कई वर्ष ही उन्हें नेतृत्व की किसी भूमिका के लिए योग्य बनाने हेतु पर्याप्त होते हैं। इसी मान्यता पर प्रभावकारी स्कूल प्रबन्धन के समर्थक प्रश्न खड़े करते हैं।

इस दृष्टिकोण में सिफारिश करने जैसा काफी कुछ है। यह कई तरह से गैर–विवादास्पद लगता है। यदि स्कूल बहुत सारे साझेदारों व भागीदारों वाले संगठन हैं, जिनके लक्ष्य व परिणाम समाज के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं, तो फिर यह तकरीबन स्वयंसिद्ध हो जाता है कि उनका कुशल नेतृत्व व प्रबन्धन किया जाना जरूरी है। मैं इस दृष्टिकोण का खण्डन करने की मंशा नहीं रखता। मेरा उद्देश्य स्कूल के नेतृत्व के विचार को संगठित ढाँचों के रूप में स्कूलों के विकास के इतिहास के सन्दर्भ में रखना है और यह दिखाने की कोशिश करना है कि वैकल्पिक पद्धतियाँ मौजूद हैं, जिनसे कई सार्थक सबक सीखे जा सकते हैं। ये ''सबक'' तब और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब हम विवाद के आधारों – शिक्षा के लक्ष्य तथा किसी नेतृत्व की सफलता को तय करने के मानदण्ड – पर सवाल खड़े करना शुरू कर दें।

नेतृत्व उद्योग

नेतृत्व की कई व्याख्याएँ इसे एक ऐसी विशेषता के रूप में परिभाषित करती हैं जो कुछ व्यक्तियों के पास होती हैं या जिसे वे हासिल कर लेते हैं। फिर इसकी बदौलत वे दूसरे व्यक्तियों और समूहों को प्रभावित करके उन्हें किसी साझा लक्ष्य की ओर बढ़ने को प्रेरित कर सकते हैं। इसके चलते इस गुण के अवयवों को पहचानने के लिए, और यह स्पष्ट करने के लिए कि इस तरह की क्षमताएँ किस प्रकार हासिल की जा सकती हैं, जबरदस्त प्रयास किए गए हैं। इस शोध का काफी बड़ा हिस्सा व्यवसायिक संगठनों के अध्ययनों से उत्पन्न हुआ है। चूँकि इसमें बहुत से हित शामिल हैं, अतः संगठनात्मक शोध में ''नेतृत्व–अध्ययन'' एक महत्वपूर्ण और कभी–कभी लाभप्रद साबित होने वाला तत्व हो गया है।

नेतृत्व की एक खास तत्व के रूप में पहचान किए जाने का प्रभाव यह हुआ कि लोग अकसर मान लेते हैं कि यदि कोई संगठन सफल हुआ है तो उसके पीछे निश्चित ही उसके शीर्षस्थ व्यक्ति का हाथ होगा। जैसा कि हम जानते हैं, संगठनों के अन्दर शीर्ष के प्रबन्धन–पदों की तनख्वाहों पर इसका सकारात्मक असर हुआ है। लेकिन, विरोधी स्वर चेतावनी देते हैं कि संगठन की सफलता (या असफलता) कहीं ज्यादा पेचीदा मामला होता है। उसे शीर्षस्थ लोगों के गुणों मात्र से जोड़कर नहीं समझा जा सकता। अच्छे नेता के गुणों को पहचानने की व किसी सम्भावित नेता को पोषित करने वाली प्रक्रियाओं को खोजने की कोशिशों में ढेर सारा वक्त व संसाधन खर्च करने के बाद भी नतीजे मिले–जुले ही रहे हैं। खैर, यहाँ मैं इस शोध की आलोचनात्मक समीक्षा करने की मंशा नहीं रखता हूँ। यहाँ मैं सिर्फ शिक्षा के चुनौतीपूर्ण सन्दर्भों में नेतृत्व के पारम्परिक प्रतिरूपों के समक्ष आने वाली कुछ कठिनाइयों की थोड़ी चर्चा करूँगा।

मशीन में प्राण

भारत का सार्वजनिक स्कूल तंत्र एक विशाल मशीन है। इसका ढाँचा इस मान्यता पर टिका है कि इतने बड़े तंत्र में भी एक केन्द्रीय

सत्ता चीजों के प्रदर्शन को निर्धारित करने, नियोजित करने व नियंत्रित करने का काम कर सकती है। इस केन्द्रीकरण के कारण का एक अंश उस औपनिवेशिक एजेंडे में ढूँढा जा सकता है जिसके चलते भारत में संगठित स्कूली तंत्रों की स्थापना हुई। जब स्वतंत्रता के बाद शिक्षातंत्र का विस्तार हुआ तब वैकल्पिक ढाँचों के विकास के माध्यम से संगठनात्मक नूतनता लाने को किसी ने भी गम्भीरतापूर्वक एक विकल्प नहीं माना। पहले से मौजूद व्यवस्था को ही और विस्तृत कर दिया गया, जिसके भयावह नतीजे सामने आए। निजी क्षेत्र में भी, पिछले सौ सालों में स्कूलों के ढाँचे में लगभग कोई भी बदलाव नहीं आया है।

भारत में, सार्वजनिक व निजी, दोनों ही तरह की स्कूल प्रणालियों में केन्द्रीकरण और कठोरता की वजह से उनके प्रबन्धन पर नकारात्मक असर पड़ा है। अधिकांश पर्यवेक्षक यह मानते हैं कि यह तंत्र प्रभावशाली ढंग से ''चलाए जाने'' के लिए ज्यादा ही बड़ा है। धीरे–धीरे राजनैतिक व संगठनात्मक, दोनों ही तरह के निहित स्वार्थों का बढ़ता जाना बदलाव की राह में एक बड़ी बाधा बन गया। भारत में, प्राथमिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली निधि में हालिया समय में आई लहर का उलटा ही असर हुआ है। इससे निहित स्वार्थों को और ज्यादा मजबूती मिल गई है व ढाँचागत बदलाव लाना और भी मुश्किल हो गया है। इन हालातों में, स्कूलों और शिक्षा–विभागों का नेतृत्व बेहद कमजोर प्रक्रिया हो गई है। इस तंत्र में काम करने वाले बहुसंख्यक कर्मचारी अकसर कहीं और लिए जाने वाले निर्णयों व आदेशों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता होते हैं। यहाँ तक कि शीर्ष पदाधिकारी भी अकसर कोई बदलाव ला पाने में ''असमर्थता'' का इजहार करते हैं।

नेतृत्व क्षमता का पता लगाना

किसी व्यक्ति में विशिष्टताओं व गुणों के मूर्तरूप में सामने आने को नेतृत्व मानने के विचारों को सबसे अधिक दृढ़ता से सैन्य संगठनों में अपनाया गया है। सबसे सफल सैन्य अभियान सर्वदा सफल नेतृत्व की कहानियाँ हैं जिनसे उनके सेनापतियों को वाहवाही और कीर्ति हासिल हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध से महान व साधारण सेनापतियों की ढेर सारी गाथाएँ निकल कर आई हैं। औद्योगिक क्रान्ति और विशाल वर्गीकृत ढाँचे वाले व्यवसायिक संगठनों के अस्तित्व में आने से असैन्य क्षेत्र में भी इसी तरह के विचारों का उद्भव होने लगा। इस उद्भव को सेना व उसके सदृश अन्य संगठनों द्वारा खड़ी की जाने वाली चुनौतियों की रोशनी में आसानी से समझा जा सकता है। सुस्पष्ट रणनीतियों को अमली जामा पहनाने के लिए या फिर या उत्पादन प्रक्रिया की शृंखला में बहुत सारे लोगों को शीघ्रता से तैनात करने की जरूरत ने आज्ञा और नियंत्रण को श्रेयस्कर क्रियात्मक रणनीति बना दिया। इस कार्यविधि ने निर्णय करने के बोझ को ऊपर के सोपानों पर डाल दिया। इस पद्धति में सफलता के लिए व्यक्तिगत स्पष्टता, बुद्धिमत्ता और आकर्षण का बहुत बड़ा किरदार होता है।

> *भारत में, प्राथमिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली निधि में हालिया समय में आई लहर का उलटा ही असर हुआ है और इससे निहित स्वार्थों को और ज्यादा मजबूती मिल गई है व ढाँचागत बदलाव लाना और भी मुश्किल हो गया है। इन हालातों में, स्कूलों और शिक्षा–विभागों का नेतृत्व बेहद कमजोर प्रक्रिया हो गई है।*

इस लेख में मेरा तर्क यह है कि हमें नेतृत्व की अवधारणाओं को ऐसे तरीकों से पुनःप्रतिपादित करने की जरूरत है जो उसे सिर्फ व्यक्तियों को हासिल कुछ विशेषताओं या फिर उनके द्वारा शुरू की गईं कुछ प्रक्रियाओं तक सीमित करके न देखते हों। हालाँकि नेतृत्व के बारे में इस तरह की विशेषता–आधारित या प्रक्रिया–आधारित परिकल्पना आकर्षक रूप से सरल है, पर इस बात का स्पष्ट ढंग से पता लगाना मुश्किल रहा है कि संगठनात्मक सफलता अनिवार्य रूप से उसके नेता के गुणों का ही परिणाम होती है। इसके अलावा, ऐसे अति सक्रिय क्षेत्रों, जहाँ उद्देश्यों पर विवाद होता है व विभिन्न कार्यपद्धतियाँ स्वीकार्य होती हैं, जैसे कि शिक्षा, के लिए मैं सुझाव देना चाहूँगा कि संगठनात्मक संरचना व नेतृत्व की वैकल्पिक अवधारणाएँ यदि अधिक नहीं तो उतनी प्रासंगिक तो हैं ही जितनी कि मौजूद अवधारणाएँ। मैं बाकी के लेख में इन विचारों को विस्तार दूँगा।

कुछ पाठक यह विरोध कर सकते हैं कि इतिहास ऐसे व्यक्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनके निजी गुणों ने विशाल जनसंख्याओं और सघन ऊर्जा को एकता के धागे में पिरो दिया। समाजशास्त्री मैक्स वैबर ने इसे करिश्माई प्रभुत्व का इस्तेमाल कहा है। गाँधी, मण्डेला और चर्चिल दिमाग में एकदम से आने वाले इसके कुछ उदाहरण हैं। हिटलर भी। मैं लोगों पर करिश्माई व्यक्तित्वों के पड़ने वाले प्रभाव से इंकार नहीं कर रहा हूँ। लेकिन, जिन सन्दर्भों में इस तरह के गुणों का इस्तेमाल किया जाता है वे आमतौर पर ज्यादा सीमित और कम संगठित होते हैं। मैं फिर कहता हूँ कि उन संगठनों की बात काफी अलग है जो लम्बे समय तक अस्तित्व में रहते हैं और जहाँ लोग अकसर पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं।

मैं यह भी कहना चाहूँगा कि आधुनिक संगठन, खासतौर पर ज्ञान तथा शिक्षा क्षेत्र के, पूर्णतः भिन्न चुनौतियों का सामना करते हैं। वे गतिमान बाह्य परिवेशों, अन्जान खतरों और बिखरी हुई विशेषज्ञता का सामना करते हैं। संगठनात्मक सीढ़ी के सबसे निचले पायदान

तक सृजनात्मक ढंग से समस्याओं का निपटारा कर सकना बहुत बड़ी सुविधा है। इस परिवेश में आदेश और नियंत्रण बिलकुल प्रभावहीन हैं।

मैंने नेतृत्व की धारणा की बात प्रभाव के रूप में की थी। भागीदारों को सृजनशील प्रदर्शन और पढ़ाई के लिए प्रभावित करना स्कूलों व स्कूली तंत्रों की प्रकृति को परिभाषित करता है। इस अर्थ में, प्रत्येक शिक्षक को नेतृत्व का प्रदर्शन करना जरूरी है, न कि सिर्फ प्रधानाध्यापकों, निदेशकों या आई.ए.एस. अफसरों को। नेतृत्व की इतनी सूक्ष्मीकृत धारणा के लिए, जो कि उसे संगठन के हर स्तर पर स्थित करती है, जरूरी होता है कि स्कूलों में और स्कूली तंत्रों में प्रभुता व निर्णय–प्रक्रिया का एक पूर्णतः वैकल्पिक बँटवारा हो। चूँकि हमारे स्कूल बिरले ही इस ढंग से शिक्षकों व अन्य भागीदारों को शक्ति देते हैं, अतः हमारे हाथ संगठन का वही सैन्य प्रतिरूप रह जाता है जो उस लक्ष्य को पाने के लिए बिलकुल ही अनुचित होता है जिसे पाने के लिए उसका गठन हुआ होता है।

नेतृत्व की संस्कृति

चलिए ''ऐडुटोपिया'' में चलते हैं। मान लें कि यह एक काल्पनिक समाज है जहाँ के स्कूल और इसी तरह के अन्य संगठन ऊपर मेरे द्वारा वर्णित भारतीय सन्दर्भ की संस्थाओं से काफी अलग हैं। ऐडुटोपिया में नेतृत्व पर किन्हीं खास शख्सियतों का एकाधिकार नहीं है। ऐडुटोपिया में लोगों ने नेतृत्व का एक वैकल्पिक सूत्र बना रखा है। यहाँ नेतृत्व स्कूलों की संस्कृति में ही मौजूद है। ऐसी संस्कृति नई पहलों, सृजनशील सोच और स्कूलों व स्कूली तंत्रों के सभी स्तरों पर जिम्मेदारी लेने के लिए लोगों को मदद करती है व प्रोत्साहित करती है। इस व्यवस्था के सदस्यों को अपने लक्ष्यों की कल्पना करने, ''पुनर्कल्पना'' करने और उन्हें हासिल करने हेतु रचनात्मक पद्धतियाँ खोजने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जिस परिवेश में ये संगठन कार्य करते हैं वह विविधता से भरा हुआ, पेचीदा और असमान होता है। ऐडुटोपिया के स्कूलों का कार्य है ऐसी शिक्षा को आगे बढ़ाना जो कि सीखने वालों की जरूरतों व रुचियों के अनुकूल हो। इस अर्थ में प्रत्येक शिक्षक एक नायक है। निश्चित ही, संगठनों के ''ऊँचे स्तरों'' पर लोग बैठे हुए हैं, पर उनका कार्य और प्रभाव अपने ''अधीनस्थों'' को स्वायत्तता से वंचित करने पर ही निर्भर नहीं रहता।

मैंने दो दशकों से भी ज्यादा समय तक बंगलौर के बाहर स्थित सैन्टर फॉर लर्निंग (सीएफएल) नामक एक छोटे से वैकल्पिक स्कूल में काम किया है जो इस तरह के ढाँचे को साकार करने की कोशिश करता है। यह स्कूल शिक्षकों के द्वारा ही चलाया जाता है। यह वर्गरहित है और इसकी संस्कृति लोकतांत्रिक है। निर्णय करने के अधिकार व नई पहल करने की सम्भावनाएँ बँटी हुई हैं। आपसी सम्बन्ध सहकर्मी भावना व सहयोग पर आधारित हैं। सीएफएल के शिक्षक मानते हैं कि यदि शिक्षा के लक्ष्यों की कल्पना प्रचलित से कहीं ज्यादा विस्तृत ढंग से की जाती है, तो पारम्परिक नेतृत्व उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल हो जाता है।

मैं यह मानता हूँ कि इस तरह का ढाँचा मुख्यधारा के भारतीय सन्दर्भ के लिए तकरीबन हास्यास्पद रूप से असम्भव है। स्कूलों की इस ढंग से पुनर्संरचना करना, जिसमें सत्ता को फैला दिया जाए व स्वायत्तता का बँटवारा कर दिया जाए, बहुत जोखिम भरा माना जाएगा। एक अन्य वाँछित प्रतीत होने वाली चिन्ता यह भी है कि हमारे स्कूली तंत्रों के सदस्यों को इस तरह के ढाँचे में परिवर्तन करने से पहले पर्याप्त रूप से तैयारी करनी पड़ेगी। संगठनात्मक नेतृत्व के ऐसे वैकल्पिक प्रतिरूप ऐसे महत्वपूर्ण आकाशदीप हैं जो हमें नई सम्भावनाओं की झलक दिखाते हैं। यदि ये प्रयोग ''विफल'' भी हो जाएँ तो भी वे हमें मूल्यवान सीख प्रदान करेंगे।

उग्र सामाजिक सिद्धान्तकार स्कूलों के वर्तमान संगठनात्मक स्वरूपों को समाज के मौजूदा सत्ता सम्बन्धों का आईना मानते हैं। वे संशय से भरकर स्कूलों की इसके लिए आलोचना कर सकते हैं कि स्कूल बदलाव के अगुआ की तरह कार्य करने की बजाय यथास्थिति के रक्षकों की तरह काम करते हैं। स्कूल समाज में दिखाई देने वाले सत्ता और विशेषाधिकार के मौजूदा ढाँचों को ही पैदा करते जाने व उन्हें जस का तस बनाए रखने के लिए कार्य करते हैं। तब आखिर क्यों ऐसे तंत्र उस हंगामे को आमंत्रित करेंगे जो अधिक लोकतांत्रिक स्वरूपों में साफ दिखाई देते हैं? सम्भवतः इसका उत्तर यह है कि ऐसी शिक्षा, जो समीक्षात्मक क्षमताएँ विकसित करके, तथा व्यक्तिगत जरूरतों को मद्देनजर रखने वाली शिक्षा मुहैया कराके सामाजिक न्याय को बढ़ावा देती है, को अपने संगठनात्मक स्तर पर ही ज्यादा समतावादी होना जरूरी है। संगठनात्मक प्रक्रियाओं में तथा उनके सदस्यों की स्वायत्त पहलों में नेतृत्व क्षमताओं को स्थापित करके ही हम और अधिक कल्याण व न्याय की सम्भावना बढ़ा सकेंगे। यदि ऐसे ढाँचे असम्भव हैं तो फिर सामाजिक न्याय व ''सर्वकल्याण'' के बृहद लक्ष्य भी असम्भव हो जाते हैं। शिक्षकों के रूप में, हमें यथास्थिति के आगे घुटने टेक देने के प्रलोभन पर काबू पाना होगा और बदलाव के रास्तों की खोज को जारी रखना होगा।

वेणु अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के शिक्षक समूह के सदस्य हैं तथा माइण्ड एण्ड सोसायटी इनीशियेटिव के संयोजक हैं। वे एक शिक्षक के रूप में, तथा सैन्टर फॉर लर्निंग, बंगलौर के एक संस्थापक सदस्य के रूप में पिछले दो दशकों से भी ज्यादा समय से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। उनका ईमेल है venu@apu.edu.in

05 प्रधानाध्यापक और स्कूली शिक्षा व्यवस्था

रश्मि शर्मा

प्रधानाध्यापक अपने स्कूल का प्रधान तो होता ही है, साथ ही एक बृहद 'व्यवस्था' का हिस्सा भी होता है जिसमें एक संस्थागत ढाँचा होता है, कुछ प्रबन्धन प्रक्रियाएँ होती हैं, दी जाने वाली शिक्षा की प्रकृति को लेकर कुछ सिद्धान्त व कार्यप्रणालियाँ और निष्पक्षता सुनिश्चित करने के तरीके व खास नीतियाँ भी होती हैं। इस व्यवस्था के समग्र लक्ष्य, किसी सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक के लक्ष्य भी, भारत के संविधान, वैधानिक ढाँचे और सरकारी नीतियों में अन्तर्निहित होते हैं। लेकिन इन्हें उस सामाजिक सन्दर्भ की रोशनी में समझना जरूरी है जिसमें वह स्कूल स्थित है। इन लक्ष्यों को किस सीमा तक हासिल किया जा सकता है,यह 'व्यवस्था' के लक्षणों, यानी संस्थागत ढाँचे और उसकी सामर्थ्य, राजनीतिक व प्रशासनिक दृष्टिकोण, बच्चों और उनकी शिक्षा के बारे में मान्यताओं, प्रबन्धन व शिक्षण पद्धतियों आदि पर निर्भर करता है।

स्कूल के प्रधान के रूप में, प्रधानाध्यापक से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह अपने साथियों, बच्चों के माता–पिता तथा विद्यार्थियों के सहयोग से स्कूल के लक्ष्यों को तय करेगा और उन्हें हासिल करने की कोशिश करेगा। लेकिन, किसी बृहद स्कूली व्यवस्था के अन्तर्गत एक प्रधानाध्यापक की हैसियत से उसके लक्ष्य व उन्हें हासिल करने की क्षमता उस बृहद व्यवस्था व उसके लक्षणों द्वारा तय होते हैं। यहाँ हम उस दबाव की पड़ताल करेंगे जो व्यवस्था द्वारा प्रधानाध्यापक पर आता है।

व्यवस्था तथा प्रधानाध्यापक के लक्ष्य

भारतीय संविधान छह से चौदह साल तक के सभी बच्चों के लिए शिक्षा के अधिकार का लक्ष्य सामने रखता है, और साथ ही समता को बढ़ावा देने की भी बात करता है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.) और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1992 इस अधिकार की विस्तार से चर्चा करते हैं: न्यूनतम बुनियादी संख्या में शिक्षक व सुविधाएँ, शिक्षा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए एक ढाँचा, समता को सुनिश्चित करने के लिए रणनीतियाँ आदि मुहैया कराना।

संविधान तथा वैधानिक व नीतिगत ढाँचों में अभिव्यक्त लक्ष्य अपना अर्थ हमारे विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भ में ग्रहण करते हैं। जाति, लिंग तथा भू–स्वामित्व पर आधारित हमारे समाज की पारम्परिक विषमताएँ उच्च आर्थिक विकास के दौर में अधिक समकालीन विषमताओं के साथ जुड़कर और भी बढ़ जाती हैं। आर्थिक वृद्धि पुनर्वितरण के लिए एक बड़ा मौका हो सकता है क्योंकि पहले से मौजूद सम्पत्तियों की तुलना में वृद्धि के परिणामों का वितरण करना ज्यादा आसान होता है, साथ ही और भी ज्यादा लोग समृद्धि के फल बटोर सकते हैं। सभी के लिए शिक्षा के समान अवसरों का अभियान इस तरह के वितरण के लिए अहम भूमिका निभा सकता है।

लेकिन हालिया अध्ययन दर्शाते हैं कि भारत में स्कूली शिक्षा की दास्तान और भी अधिक विषमता को बढ़ावा देने की दास्तान है। सामाजिक–आर्थिक दर्जे के आधार पर स्कूलों के बीच बिलकुल स्पष्ट भिन्नता है। सम्पन्न घरों के बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं जबकि अपेक्षाकृत कमजोर आर्थिक स्थिति वाले बच्चे, अनुसूचित जातियों व जनजातियों के बच्चे, काम करने वाले बच्चे ,लड़कियाँ आदि सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। बिलकुल ही गरीब वंचित बच्चे नीति द्वारा निर्धारित आठ साल की न्यूनतम शिक्षा को भी पूरा नहीं कर पाते (नांबिसान 2005, रामचन्द्रन 2003)।

इस सन्दर्भ में, नीतिगत दृष्टिकोण से देखें तो दो सबसे महत्वपूर्ण चिन्ताएँ हैं: यह सुनिश्चित करना कि सभी बच्चे कम से कम आठ साल की शिक्षा पूरी करें और सरकारी स्कूलों में निष्पक्षता बनी रहे। यदि सभी बच्चे स्कूल जाएँ, और सरकारी स्कूल उच्च–स्तरीय शिक्षा प्रदान करें तो केवल कुछ थोड़े से नहीं, बल्कि सारे बच्चे अपनी सामर्थ्य व सम्भावनाओं के साथ न्याय कर पाएँगे। साथ ही बच्चों को सामाजिक–आर्थिक स्तर के आधार पर मिलने वाले शैक्षणिक अवसरों की मौजूदा विभेदकारी प्रवृत्ति को कमजोर किया जा सकेगा। संविधान, आर.टी.ई. और हमारी नीतियाँ सभी वर्गों को शामिल करने वाले तथा उच्च–स्तरीय सरकारी स्कूलों के सृजन को काफी स्पष्ट रूप से प्रोत्साहन देते हैं। इस अर्थ में, हमारे कानून और नीतियाँ प्रधानाध्यापक के लिए एक चुनौती खड़ी कर देते हैं, यानी अपने स्कूल को उत्कृष्टता की ओर ले जाना और सृजनशील व सार्थक नेतृत्व की सम्भावना पैदा करना।

सर्वांगीण सन्दर्भ में लक्ष्यों को प्राप्त करना

आइए, अब हम एक ज्यादा मुश्किल सवाल पूछते हैं। इन लक्ष्यों की प्राप्ति में व्यवस्था किस हद तक प्रधानाध्यापक को समर्थ बनाती है व उसे मदद देती है?

> *स्कूल के प्रधान के रूप में, प्रधानाध्यापक से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह अपने साथियों, बच्चों के माता–पिता तथा विद्यार्थियों के सहयोग से स्कूल के लक्ष्यों को तय करेगा और उन्हें हासिल करने की कोशिश करेगा। लेकिन, किसी बृहद स्कूली व्यवस्था के अन्तर्गत एक प्रधानाध्यापक की हैसियत से उसके लक्ष्य व उन्हें हासिल करने की क्षमता उस बृहद व्यवस्था व उसके लक्षणों द्वारा तय होते हैं।*

पदानुक्रम सम्बन्धी श्रेणीबद्ध व्यवस्था, केन्द्रीकरण की नीतियों और गैर–लचीले तरीकों के चलते प्रधानाध्यापक की नेतृत्व–भूमिका एक मजबूर व्यक्ति जैसी बन जाती है। स्कूली व्यवस्था बेहद पदानुक्रमित है। और स्कूल पदानुक्रम की इस व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर है (शर्मा 2009)। ऐसी व्यवस्था किसी सेना के लिए उपयुक्त हो सकती है, पर किसी शैक्षणिक संस्था के लिए इसकी तकरीबन कोई प्रासंगिकता नहीं है।

वे प्रमुख व्यक्ति, जो बृहद व्यवस्थाओं के हिस्से हैं, जैसे कि सरकारी स्कूलों के प्रधानाध्यापक, किसी विशेष 'सर्वांग', व्यवस्थापरक सन्दर्भ में अपना नेतृत्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार का नेतृत्व किसी निजी स्कूल के प्रधानाध्यापक द्वारा प्रदान किए जाने वाले नेतृत्व से भिन्न है।

निजी स्कूल के प्रधानाध्यापक को मूलतः पालकों, विद्यार्थियों तथा स्कूल बोर्ड या प्रबन्धन को सन्तुष्ट करना होता है। उसे भी कुछ सरकारी कायदों का पालन करना पड़ता है जैसे पाठ्यक्रम, परीक्षाएँ आदि,लेकिन उसके पास ठीक–ठाक स्वायत्तता होती है। दूसरी तरफ, सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक को एक बृहद तंत्र को सन्तुष्ट करना होता है और उसकी रिवायतों, नियमों और कायदों के अनुरूप कार्य करना होता है। इसमें उसका नेतृत्व आंशिक ही होता है। पर निजी स्कूल के प्रधानाध्यापक के बनिस्बत सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक को बृहद तंत्रों द्वारा विकसित किए जा सकने वाले संसाधनों का लाभ मिल सकता है, जैसे कि नियोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम, साझे ज्ञान–संसाधन, साथियों से सीखना इत्यादि। स्वायत्तता के मामले में, सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक की स्थिति प्रतिकूल है, पर बौद्धिक व अन्य संसाधनों की सुलभता के मामले में उसकी स्थिति ज्यादा अनुकूल है।

लेकिन, मैं यह मानती हूँ कि वर्तमान व्यवस्था स्कूली प्रधानाध्यापक के पास मौजूद आंशिक नेतृत्व को और भी कमजोर कर देती है, जबकि बौद्धिक व अन्य संसाधनों की ज्यादा उपलब्धता इस क्षति की अपर्याप्त भरपाई ही कर पाती है।

पदानुक्रम सम्बन्धी श्रेणीबद्ध व्यवस्था, केन्द्रीकरण की नीतियों और गैर–लचीले तरीकों के चलते प्रधानाध्यापक की नेतृत्व–भूमिका एक मजबूर व्यक्ति जैसी बन जाती है। स्कूली व्यवस्था बेहद पदानुक्रमित है। और स्कूल पदानुक्रम की इस व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर है (शर्मा 2009)। ऐसी व्यवस्था किसी सेना के लिए उपयुक्त हो सकती है, पर किसी शैक्षणिक संस्था के लिए इसकी तकरीबन कोई प्रासंगिकता नहीं है। यह बेहद केन्द्रीकृत भी है। शिक्षकों को ऊँचे पदों पर बैठे अधिकारियों या मंत्रियों द्वारा स्कूलों में या उनसे बाहर पदस्थापित कर दिया जाता है। पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकें पूर्व–निर्धारित होती हैं और शिक्षकों को प्रशिक्षित करते वक्त अक्सर स्कूल की जरूरतों व सहूलियत के बारे में ज्यादा कुछ सोचा–विचारा नहीं जाता। स्कूल को मुख्यतः 'आदेशों के प्राप्तकर्ता' के रूप में देखा जाता है, चाहे वे आदेश समय–सारणियों के बारे में हों, विशेष अवसरों के उत्सव की बात हो, सूचना एकत्रीकरण की बात हो या कुछ और। व्यवस्था में लचीलापन नहीं है, अतः नियमों को लागू करना ही पड़ता है चाहे वे प्रासंगिक हों या न हों। पदानुक्रम, कठोरता और केन्द्रीकरण इस हद तक व्याप्त हैं कि कई प्रधानाध्यापक तो जब उनके पास स्वायत्तता होती है, तब भी आदेशों के पालनकर्ता बने रहते हैं।

यह स्थिति प्रधानाध्यापक की सन्दर्भ–आधारित समाधान निकालने की कोशिश व क्षमता को सीमित कर देती है। चूँकि प्रधानाध्यापक ऊपर से नीचे तक आदेशों की शृंखला के आधार पर कार्य करते हैं, उनके पास विद्यार्थियों की विशेष जरूरतों पर ध्यान देने के लिए या कुछ नया करने के लिए कोई समय या गुंजाइश नहीं रह जाती। इसके चलते स्कूलों में उत्कृष्टता के लिए भी कोई जगह नहीं बचती। इसके अलावा, स्कूल एक अनजानी–सी संस्था बन जाता है, जहाँ दूर बैठे कुछ अधिकारियों के आदेशों का पालन किया जाता है। ऐसे परिदृश्य में, हो सकता है कि प्रधानाध्यापकों को लोगों का सहयोग न मिले और वास्तव में उन्हें काफी विरोध झेलना पड़े।

किसी बृहद व्यवस्था द्वारा प्रदान किए जा सकने वाले बौद्धिक तथा अन्य संसाधनों का लाभ हकीकत में प्रधानाध्यापक को उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि भारतीय तंत्र ने अपनी संसाधन–संस्थाओं को पर्याप्त रूप से विकसित नहीं किया है। राज्य शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषदें (एस.सी.ई.आर.टी.) तथा जिला शिक्षा व प्रशिक्षण संस्थाएँ अभी भी ज्ञान की जीवन्त सृजनकर्ता और वितरक नहीं बन पाई हैं। शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रमों की गुणवत्ता में बेहद अस्थिरता है। व्यवस्था के भीतर, शिक्षा व पढ़ाई की प्रकृति पर सार्थक संवाद बहुत कम होता है (दीवान 2009)। परिणामस्वरूप, प्रधानाध्यापक को ठोस शैक्षणिक सहयोग के रूप में व्यवस्था से तकरीबन कुछ नहीं मिलता। उसे भले ही ढेर सारे शैक्षणिक 'आदेशों' का पालन करना पड़ता हो, पर इनसे स्कूल के भीतर बेहतर अध्यापन और अध्ययन सुनिश्चित नहीं होता।

बौद्धिक जीवन्तता की कमी के साथ ही, प्रधानाध्यापक को संरक्षण व भ्रष्टाचार की संस्कृति से भी दो–चार होना पड़ता है। यह पूरे तंत्र में व्याप्त है और शिक्षा पर इसका बहुत गहरा असर पड़ता है। शिक्षकों

की पोस्टिंग एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा यह पूरी व्यवस्था संविधान में वर्णित लक्ष्यों को पूरा करने की ओर जाने के बजाय फिर से शक्तिशाली लोगों के हितों की तरफ मुड़ जाती है (शर्मा 2009)। अधिकांश राज्यों में, शिक्षकों की पोस्टिंग संरक्षण–आधारित होती हैं। ऊँचे लोगों से बेहतर सम्बन्ध रखने वाले शिक्षक 'अच्छी' पोस्टिंग पा सकते हैं, यानी कि शहरी स्कूलों में, जबकि अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली लोग दूर–दराज के गाँवों में भेज दिए जाते हैं। इससे शिक्षकों के बीच पक्षपात की भावना घर कर जाती है और वे हतोत्साहित हो जाते हैं। अन्य अनैतिक आचरण, जैसे कि शिक्षकों के अनुपस्थित रहने की घटनाएँ, सामने आने लगती हैं। इसका कारण होता है शिक्षकों का अपने निरीक्षकों के साथ होने वाला 'गठजोड़' जिसके चलते वे शिक्षकों की अनुपस्थिति को नजरन्दाज कर देते हैं। कई बार चहेते शिक्षकों को ज्यादा सुविधाजनक और शहरी स्कूलों के साथ 'जोड़' दिया जाता है, जिससे कि दूर–दराज के ग्रामीण स्कूलों को शिक्षकों की कमी व उनकी अनुपस्थिति जैसी बातों का सामना करना पड़ता है। संरक्षण–आधारित कार्यशैली और भ्रष्टाचार के व्याप्त होने से ऐसा वातावरण बन जाता है जहाँ निजी हितों को संस्था के लक्ष्यों पर वरीयता दी जाती है, जिससे संस्थाओं की गरिमा और नैतिकता नष्ट हो जाती है।

आखिर में, यह व्यवस्था उन व्यक्तियों को कोई खास पुरस्कार नहीं देती जो इस तरह के वातावरण में काम करते रहने के बावजूद शैक्षणिक लक्ष्यों के प्रति कटिबद्ध बने रहते हैं। हमारे पास अच्छे शिक्षकों और प्रधानाध्यापकों की पहचान करने का और उन्हें सम्मानित करने का कोई तरीका नहीं है। न केवल ऐसे व्यक्तियों को पदोन्नति और इसी तरह के अन्य औपचारिक अर्थों में कोई अलग मान्यता नहीं मिल पाती बल्कि कई बार ऐसे लोगों की ईमानदारी व उनके कार्य सामने ही नहीं आ पाते। अतः उत्कृष्टता हासिल करने की कोशिश एक एकाकी सफर बन जाती है जिसमें मान्यता व सराहना का कभी–कभार मिलने वाला वह पारितोषिक भी नहीं मिल पाता जिससे सब मनुष्य प्रेरणा हासिल करते हैं।

सार

यह पूरी चर्चा दर्शाती है कि यदि लोगों की जरूरतों के प्रति संवेदनशील रहने वाले बौद्धिक रूप से जीवन्त किसी स्कूल के प्रधान के रूप में प्रधानाध्यापक का सहयोग किया जाना है तो व्यवस्था के भीतर महत्वपूर्ण बदलाव होना जरूरी है। हमारा संविधान, कानून व नीतियाँ उच्च–स्तरीय एवं विस्तृत दायरे वाले, समावेशी सरकारी स्कूलों की जरूरत की बात बहुत साफ तौर पर करते हैं। पर प्रधानाध्यापक को इसे हासिल करने के लिए समर्थ बनाने हेतु यह जरूरी है कि व्यवस्था पदानुक्रम–आधारित, 'आदेश देने वाली' भूमिका को छोड़कर एक अधिक सहयोगी भूमिका निभाए जहाँ कोई स्कूल अपने खास सन्दर्भ में अपने लक्ष्यों को परिभाषित कर सके, और प्रधानाध्यापक को कहीं ज्यादा स्वायत्तता मिल सके। लेकिन इसके साथ ही ऐसे समृद्ध शैक्षिक सहयोग और प्रबन्धन प्रक्रियाओं की स्थापना भी बहुत जरूरी होगी जो शिक्षकों व कर्मचारियों को प्रोत्साहित करें। यदि प्रधानाध्यापक अपने स्कूल की पूरी सामर्थ्य और सम्भावनाओं को हासिल करना चाहते हैं तो व्यवस्था के भीतर ही सुधार किया जाना बहुत जरूरी है।

References:

1. Nambissan (2005) Terms of Inclusion Dalits and the Right to Education in Ravi Kumar (ed.) The Challenge of Education in India. New Delhi. Sage Publications.
2. Ramachandran, Vimala (2003) Gender and Social Equity in Primary Education Hierarchies of Access. New Delhi: Sage Publications.
3. Sharma, Rashmi (2009) The Internal Dynamic in The Elementary Education System in India: Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics edited by Rashmi Sharma and Vimala Ramachandran. New Delhi. Routledge Press.
4. Dewan, Hriday Kant (2009) Teaching and Learning The Practices in The Elementary Education System in India: Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics edited by Rashmi Sharma and Vimala Ramachandran. New Delhi. Routledge Press.

रश्मि शर्मा मध्य प्रदेश काडर से भारतीय प्रशासनिक सेवा की अधिकारी हैं। सरकार व उसके सुधार उनकी सामान्य रुचि के क्षेत्र हैं, और स्कूली शिक्षा व विकेन्द्रीकरण (पंचायती राज) में उनकी खास दिलचस्पी है। उन्होंने दो किताबें, 'Local Government in India: Policy and Practice' (Coauthored with Vimala Ramachandran)' The Elementary Education System in India: A Study of Institutional Structures, Process and Dynamics' व कई लेख लिखे हैं। उनसे rashmisb2001@hotmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

06

सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था का रूपान्तरण

आप इस यात्रा में कहाँ हैं और अगली छलाँग कैसे लगाएँगे?

मोना मुर्शेद

रमेश मंगलश्वरन

राम्या वैंकटरमन

''हमारे राज्य में अधिकांश विद्यार्थी स्कूल में नाम तो लिखवाते हैं लेकिन अब हमें ऐसे तरीकों की जरूरत है जिनके द्वारा वे सचमुच में कुछ सीखें!'' – वरिष्ठ शासकीय नेता

''हम अपने अनुदान प्राप्तकर्ताओं से विद्यार्थियों के परिणामों की गुणवत्ता नापने की अपेक्षा करते हैं; हम अनुदान को परिणामों से जोड़ना चाहेंगे।'' –वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली एक अग्रणी संस्था के प्रमुख

''हमारे कार्यक्रमों में हमारे लिए उत्कृष्टता एक केन्द्रीय मूल्य है।'' – एक गैर–लाभकारी संगठन के मुख्य कार्यकारी अधिकारी

''हमें सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता सुधारने में उसकी सहायता करने की जरूरत है।'' – एक प्रमुख उद्योगपति

एक देश के रूप में हमने शिक्षा की पहुँच, बच्चों के नामांकन और स्कूलों में बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराने की दृष्टि से महत्वपूर्ण सकारात्मक उपलब्धियाँ हासिल की हैं। प्राथमिक स्कूली व्यवस्था में अगली बड़ी चुनौती गुणवत्ता की है। इस चुनौती का होना अब व्यापक तौर पर स्वीकार किया जाता है, जैसा कि उपरोक्त उद्धरण भी प्रगट करते हैं।

स्वतन्त्र संस्थाओं द्वारा किए गए मूल्यांकन, खासकर शहरी क्षेत्रों के पालकों द्वारा बच्चों को निजी स्कूलों में स्थानान्तरित करना, गैर–लाभकारी संस्थाओं द्वारा छेड़ी गई सक्रिय चर्चाओं और वित्तीय अनुदानदाताओं का भरपूर दबाव, इन सभी ने सार्वजनिक शिक्षा में गुणवत्ता की जबरदस्त कमी पर जोर दिया है और इस बारे में चेतना जगाई है। पिछले कुछ वर्षों में सरकारों, गैर–लाभकारी संस्थाओं और व्यावसायिक लाभ के लिए बनी संस्थाओं द्वारा देश भर में शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के लिए अनेक प्रयास प्रारम्भ किए गए हैं। जहाँ ये बहुत अच्छे शुरुआती अभिक्रम हैं, वहीं ये दो प्रमुख कारणों से अपर्याप्त साबित हुए हैं।

पहला, अनेक निकायों (राज्य सरकारें तथा नगर निगम) के नेता एक उचित प्रश्न उठाते हैं कि इस क्षेत्र में कौन–से ऐसे सर्वश्रेष्ठ वैश्विक अनुभव हैं जिनसे सीखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, हमें मालूम है कि सिंगापुर अपने हर स्नातक समूह के ऊपरी 30 प्रतिशत छात्रों को आगे शिक्षण की ओर आकर्षित करने में सफल होता है, किन्तु हमें यह स्पष्ट नहीं है कि भारत में ऐसा सम्भव हो पाएगा। इसी प्रकार हम यह जानते हैं कि न्यूयॉर्क अपने स्कूलों को अच्छे प्रदर्शन के लिए काफी स्वायत्तता प्रदान करता है, पर इसका भी भारत के लिए कोई अर्थ हो सकता है, यह साफ नहीं है।

दूसरा, जहाँ भारत में अभी चल रहे प्रयासों में से कुछ ने बहुत कुछ हासिल किया है, वहीं अनेक निम्न तीन प्रमुख आयामों में से एक या अधिक में चुनौतियों का सामना कर रहे हैं: बड़े पैमाने पर दोहराए जाने की क्षमता, प्रभाव की गहराई, और लम्बे समय तक बने रहने की क्षमता।

यह लेख मैकिंसी एण्ड कम्पनी (McKinsey's) द्वारा विकसित की गई स्कूल व्यवस्था की रूपान्तरण सम्बन्धी वैश्विक जानकारी को भारत में हासिल किए गए अनुभवों के साथ उपयोग करते हुए इस बारे में कुछ प्रारम्भिक विचार प्रस्तुत करता है कि आपके राज्य, जिले या शहर में सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था को रूपान्तरित करने के लिए क्या किया जा सकता है?

विश्वभर में स्कूल व्यवस्था के रूपान्तरण से हम क्या सीख सकते हैं?

खराब प्रदर्शन करने वाला स्कूल अच्छा कैसे हो जाता है? और एक अच्छी व्यवस्था श्रेष्ठ कैसे बनती है? विशेष रूप से वे कौन–से कार्य हैं जिनके द्वारा कोई व्यवस्था एक स्तर से दूसरे स्तर तक उठती है? इस यात्रा के कौन–से पहलू सार्वभौमिक हैं और कौन–से आपके अपने सन्दर्भ विशेष से सम्बन्धित हैं? और किसी व्यवस्था में सुधार का स्फुरण कैसे होता है और उसे कैसे जारी रखा जाता है?

ये उन सवालों में से कुछ हैं जिनके हमने अपनी हालिया रिपोर्ट, ''हाऊ द वर्ल्ड मोस्ट इम्प्रूव्ड स्कूल सिस्टम्स कीप गैटिंग बैटर (संसार की सबसे सुधरी हुई स्कूल व्यवस्थाएँ और बेहतर कैसे होती जाती हैं)'' में उत्तर देने का प्रयास किया है। यह कई वर्षों से स्कूल व्यवस्थाओं के साथ काम करने के हमारे अनुभव और विशेष रूप से संसार की बीस स्कूल व्यवस्थाओं, जिनमें से प्रत्येक का प्रारम्भिक प्रदर्शन स्तर भिन्न था, की रूपान्तरण यात्रा के बारे में गहराई से किए गए शोध पर आधारित है।

हमारी पूरी रिपोर्ट और उसका कार्यकारी सार इन्टरनेट[1] पर

उपलब्ध है। यहाँ भारतीय सन्दर्भ के लिए प्रासंगिक उसके कुछ प्रमुख निष्कर्षों का सार प्रस्तुत है।

पहला, कोई भी व्यवस्था, चाहे वह कहीं से भी आरम्भ करे, महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कर सकती है – और ये उपलब्धियाँ छह वर्ष या उससे कम समय में हासिल की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, 2006 में लैटविया के छात्रों का प्रदर्शन 2000 में छात्रों के प्रदर्शन से छह माह आगे के स्तर का था। लॉग बीच में छह वर्षों के प्रयास से कक्षा 4 और 5 के गणित में छात्रों का प्रदर्शन क्रमशः 50 और 75 प्रतिशत बेहतर हो गया। कुछ व्यवस्थाओं ने इससे भी कम समय में उल्लेखनीय सुधार दर्शाया है। उदाहरण के लिए ब्राजील के मिनास जैराए और दक्षिण अफ्रीका के वैस्टर्न केप स्थित स्कूली व्यवस्थाओं ने निम्न प्रदर्शन स्तर से प्रारम्भ करके सिर्फ दो से चार वर्षों में अपने साक्षरता और संख्या ज्ञान के स्तरों में महत्वपूर्ण सुधार किया है। साथ ही अलग–अलग सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमियों के छात्रों के बीच के उपलब्धि अन्तर को भी कम किया है।

दूसरा, और यह अति महत्वपूर्ण है, स्कूली व्यवस्था की सुधार–यात्रा का हरेक खास चरण कुछ विशिष्ट प्रयासों से जुड़ा रहता है। हमारा शोध दर्शाता है कि ''खराब से सन्तोषजनक'' स्तर की यात्रा ''अच्छे से श्रेष्ठ'' स्तर की यात्रा से बहुत भिन्न दिखती है। साथ ही इनमें से हरेक चरण के भीतर भी काफी एक–सी सशक्त संरचनाएँ दिखती हैं – चाहे पृष्ठभूमि किसी भी संस्कृति, भूगोल, राजनीति या इतिहास की हो। व्यवस्थाओं को खराब से सन्तोषजनक प्रदर्शन तक ले जाने वाले प्रयासों का समूह एक समान होता है। फिर प्रयासों का दूसरा समूह होता है जो सन्तोषजनक से अच्छे प्रदर्शन तक ले जाता है और प्रयासों का एक तीसरा समूह प्रदर्शन को अच्छे से श्रेष्ठ स्तर तक। प्रयासों का एक और समूह श्रेष्ठ से उत्कृष्ट स्तर तक ले जाता है।

खराब से सन्तोषजनक तक की यात्रा[2] में साक्षरता और अंक ज्ञान की बुनियादी जानकारी के जड़ें जमाने पर जोर दिया जाता है। इसमें सामान्यतः निम्न तत्व शामिल रहते हैं: निम्नस्तरीय कौशल वाले शिक्षकों और प्राचार्यों को ऐसे तत्वों जैसे विस्तृत लिखित विवरणों वाली मानक पाठ योजनाओं और नियमित प्रशिक्षण द्वारा एक कार्यकारी ढाँचा या दैनन्दिन सहयोग और प्रोत्साहन प्रदान करना; आँकड़ा इकट्ठा करने वाली पद्धतियों, मूल्यांकनों का उपयोग और केन्द्रीकृत ढंग से निर्मित किए गए पढ़ाने और सीखने के संसाधनों के द्वारा सभी स्कूलों को गुणवत्ता के एक न्यूनतम मानक स्तर तक लाना; और जहाँ स्कूलों तक पहुँच और दाखिले अभी भी मुद्दे हों वहाँ उन्हें सुधारना। दूसरी ओर, अच्छे से श्रेष्ठ[3] प्रदर्शन के मार्ग में शिक्षण के व्यवसाय को ऐसा स्वरूप देने पर ध्यान केन्द्रित किया गया जिसमें इसकी आवश्यकताएँ, आचरण और उन्नति के रास्ते उसी प्रकार स्पष्ट हों जैसे चिकित्सा या विधि व्यवसायों में होते हैं।

यह दर्शाता है कि सुधार चाहने वाली व्यवस्थाओं को यात्रा के समान दौर से गुजर रही व्यवस्थाओं से सीखना बेहतर होगा, बजाय उन व्यवस्थाओं से सीखने के जो प्रदर्शन के काफी भिन्न स्तर पर हों। इससे यह भी प्रगट होता है कि जिन प्रयासों से व्यवस्थाओं को अतीत में सफलताएँ हासिल हुईं उन्हीं को और अधिक दोहराने से सुधार का क्रम जारी नहीं रखा जा सकता।

तीसरा, आज बहस में 'प्रक्रिया' पर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। व्यवस्था का प्रदर्शन सुधारने का मतलब अन्ततः कक्षाओं में छात्रों के सीखने के अनुभव में सुधार करना होता है। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए स्कूली व्यवस्थाएँ तीन काम करती हैं – वे नई संस्थाएँ या नए प्रकार के स्कूल स्थापित करके, या व्यवस्था–सम्बन्धी जिम्मेदारियों में परिवर्तन करके अपने ढाँचे बदलती हैं; वे स्कूलों में अधिक शिक्षकों को नियुक्त करके या व्यवस्था के वित्तीय साधनों में वृद्धि करके अपने संसाधनों में परिवर्तन करती हैं; और वे पाठ्यक्रमों में संशोधन करके तथा शिक्षकों के पढ़ाने के तरीके और प्राचार्यों के नेतृत्व के तरीके में सुधार करके अपनी प्रक्रियाओं को बदलती हैं। सार्वजनिक बहस अक्सर ढाँचे और संसाधन पर केन्द्रित रहती है क्योंकि भागीदारों के लिए उनके स्पष्ट निहितार्थ होते हैं। परन्तु, हम पाते हैं कि हमारे नमूने में सुधार करने वाली व्यवस्थाओं द्वारा किए गए प्रयासों का बड़ा भाग (70 प्रतिशत से अधिक उदाहरणों में) अपनी प्रकृति में 'प्रक्रियात्मक' है; और इस क्षेत्र में सुधार करने वाली व्यवस्थाओं की गतिविधियाँ पढ़ाई जाने वाली विषयवस्तु में परिवर्तन करने के बजाय शिक्षा प्रदान करने के तरीकों को सुधारने पर अधिक केन्द्रित रहती हैं।

चौथा, किसी व्यवस्था का सन्दर्भ निश्चित रूप से कुछ करने का तरीका तय करता है। यद्यपि, हर प्रदर्शन स्तर से कुछ खास प्रयासों का एक साझा समूह जुड़ा रहता है, परन्तु कोई व्यवस्था इन प्रयासों को कैसे लागू करती है इस दृष्टि से उनके अनुक्रम, लागू करने के समय और उनकी प्रगति जैसे पहलुओं में बहुत विविधता होती है – सुधारों को लागू करने में ''एक आकार सबके लिए उपयुक्त है'' वाले दृष्टिकोण का लगभग कोई प्रमाण नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, व्यवस्थाओं के प्रमुखों के साथ हमारे साक्षात्कार यह दर्शाते हैं कि सुधारों को लागू करने सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण निर्णयों में से एक यह है कि व्यवस्था का जोर सुधारों को सीधे–सीधे आदेशात्मक ढंग से लागू करने पर होता है या सभी भागीदारों को उनके लिए राजी करने पर होता है। जिन व्यवस्थाओं का हमने अध्ययन किया उन्होंने एक समान प्रयासों के समूह को लागू करने

के लिए आदेशात्मक और मनाने वाले तरीकों के विभिन्न मिले–जुले रूपों को अपनाया।

भारत में किसी राज्य, शहर या जिले के लिए रूपान्तरण के लिए किस प्रकार विचार करना चाहिए?

जैसा कि इस लेख के प्रारम्भ में कहा गया, भारत की सार्वजनिक स्कूली व्यवस्थाएँ शिक्षा की गुणवत्ता में जबरदस्त खामियों का सामना कर रही हैं, जैसा कि तीसरे पक्ष की संस्थाओं द्वारा किए गए मूल्यांकनों से आँका गया है और सरकारी तथा उद्योग जगत के नेताओं द्वारा भी स्वीकार किया गया है। इसके अलावा, दाखिलों के संख्यात्मक स्तर काफी ऊँचे होते हुए भी, विद्यार्थियों को स्कूलों में बनाए रखने में हमारे सामने बड़ी चुनौतियाँ हैं और आंशिक रूप से इसका सम्बन्ध भी गुणवत्ता से है।

इस स्थिति को देखते हुए हमें लगता है कि ''खराब से सन्तोषजनक'' प्रदर्शन की यात्राओं में किए गए प्रयास तात्कालिक रूप से हमारे लिए सबसे अधिक प्रासंगिक होंगे, जबकि कुछ राज्यों और शहरों में जल्दी ही ''सन्तोषजनक से अच्छे'' यात्रा–दौरों को अपनाने की सम्भावना होगी।

इसलिए पाँच प्रकार के प्रयासों का समूह भारतीय सन्दर्भ में सबसे अधिक प्रासंगिक होने की सम्भावना है; कम लागत वाले, नियमित, तीसरे पक्ष द्वारा किए गए विद्यार्थियों के मूल्यांकन और ''हल्के स्पर्श'' वाले प्रदर्शन–प्रबन्धन (अर्थात पारदर्शिता, सहायता और सकारात्मक प्रोत्साहन का उपयोग); मानकीकृत शिक्षकीय संसाधन–पिटारों (पैडागॉजी टूलकिटस) तथा क्षेत्र–एवं–मंच (फील्ड–एण्ड–फोरम) आधारित प्रशिक्षण एवं शिक्षण द्वारा शिक्षकों की सहायता; प्रधानाध्यापकों को स्कूल–नायकों के रूप में विकसित करना जिसमें स्पष्ट रूप से जोर विद्यार्थियों के परिणामों के प्रबन्धन, क्षेत्र–एवं–मंच आधारित प्रशिक्षण एवं शिक्षण, और धीरे–धीरे शैक्षणिक नेतृत्व और शिक्षकों के शिक्षण की ओर बढ़ने में उनकी भूमिका पर होगा; तकनीक का चुनिन्दा इस्तेमाल खासकर प्रशासनिक और शिक्षक–प्रशिक्षण की गतिविधियों में; और सशक्त जवाबदेही सहित निजी क्षेत्र की व्यवस्थित भागीदारी।

हम मानते हैं कि मोटे तौर पर इन प्रयासों के भारत के समग्र सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रासंगिक होने की सम्भावना है। पर प्रत्येक राज्य या शहर के लिए रूपान्तरण प्रक्रिया का विशिष्ट रूप निश्चित ही सन्दर्भ के आधार पर भिन्न होगा। इसके अलावा, जैसा हमारे वैश्विक शोध से प्रगट होता है, ऐसे रूपान्तरण को कैसे प्रारम्भ करना और किस तरह लागू करना इसके लिए महत्वपूर्ण सन्दर्भगत पहलुओं पर विचार करना होता है।

इस लेख का शेष भाग संरचना निर्मित करने के कुछ केन्द्रीय सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जिनका अपने राज्य, शहर या जिले की स्कूल व्यवस्था के रूपान्तरण के तरीके पर विचार करते समय ध्यान रखना चाहिए।

संरचनात्मक निदान प्रणाली जिसमें विद्यार्थी की शैक्षणिक उपलब्धि शामिल हो: जैसा कि उपरोक्त सीखों से जाहिर है, पहले स्पष्टता से यह देखना महत्वपूर्ण है कि स्कूली व्यवस्था का प्रारम्भिक बिन्दु क्या है। इसके लिए एक संरचनात्मक, तथ्यपरक, गुणात्मक निदान प्रणाली की जरूरत है, जिसमें इनपुट तथा परिणाम के मानदण्ड शामिल होंगे और जो विश्लेषणों, साक्षात्कारों और निरीक्षणों पर आधारित होगी। विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धियों का एक तीसरे पक्ष पर आधारित मूल्यांकन ऐसी निदानात्मक प्रणाली का अति–आवश्यक अंग है। यह देखते हुए कि विभिन्न स्तरों पर विद्यार्थियों की योग्यता का मूल्यांकन करने के लिए कोई मानक राष्ट्रीय पद्धति नहीं है, यह प्रणाली विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है।

परस्पर जुड़े हुए प्रयासों का उचित प्राथमिकताओं के अनुसार बनाया गया समूह: भारत में शिक्षा सुधारों के अनेक प्रयास दो अतियों की ओर प्रेरित रहे हैं – या तो एक ही पहल के माध्यम से सुधारों को लागू करने की कोशिश या एक साथ बहुत –सी चीजें करने की कोशिश। इसके बजाय, निदानात्मक प्रक्रिया के आधार पर ''परस्पर जुड़े हुए प्रयासों के सबसे छोटे ऐसे समूह'' की पहचान करना बेहद जरूरी है जो उल्लेखनीय और दीर्घकालिक ढंग से बड़े पैमाने पर सुधारों की ओर ले जाएगा। उदाहरण के लिए, यदि प्रधानाध्यापकों से स्कूल में महत्वपूर्ण प्रबन्धन भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है तो उनके काम के बोझ को एमआईएस प्रणाली का उपयोग करते हुए कम करना पड़ सकता है। यदि शिक्षकों को किसी नई शिक्षण पद्धति के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है तो प्रधानाध्यापक को भी उसकी पर्याप्त समझ होना चाहिए ताकि वे शिक्षकों को उसका उपयोग करने के लिए प्रेरित कर सकें और इसमें उनकी मदद कर सकें।

एक उपयुक्त छोटे अन्तराल में पैमाने, गहराई और दीर्घकालिक टिकाऊपन का न्यूनतम गठजोड़: जैसा कि पहले कहा गया है, भारत में अनेक प्रयास इन तीन आयामों में से किसी न किसी में असफल रहे हैं। उदाहरण के लिए, गैर–सरकारी संगठनों द्वारा छोटे पैमाने पर संचालित कई उच्च गुणवत्ता वाले प्रतिरूप हैं (जैसे कि स्कूल–पश्चात केन्द्र, बड़े विद्यार्थियों के लिए व्यावसायिक कार्यक्रम, सामुदायिक भागीदारी अभियान, यहाँ तक कि पूर्ण स्कूल भी, आदि)। ऐसे प्रयासों की कभी–कभी उच्च लागत और उनके द्वारा उपयोग किए गए विशेष संसाधनों के अलावा उनके छोटे पैमाने के कारण वे व्यापक व्यवस्था में दोहराए जाने काबिल नहीं

रह जाते। दूसरी ओर, सरकारों और गैर–सरकारी संगठनों, दोनों के द्वारा संचालित कुछ बड़े पैमाने पर किए गए प्रयास (जैसे कि बुनियादी साक्षरता अभियान, बड़े पैमाने के सुधार कार्यक्रम आदि) हैं, जो बड़े विस्तृत पैमाने पर तो हुए पर सीखने के परिणाम में आए परिवर्तन की मात्रा या गुणवत्ता की दृष्टि से जिनकी गहराई सीमित थी। अन्त में, अनेक गैर–सरकारी प्रयासों ने व्यवस्था में समाहित होने के लिए संघर्ष किया है और उन्हें अनेक सरकारी प्रयासों को ''कार्यक्रम की समाप्ति के साथ ही बन्द होने'' या ''सरकार बदलने के साथ ही अन्त हो जाने'' जैसी अकसर घटने वाली स्थितियों का सामना करना पड़ा है।

प्रक्रिया की संरचना को स्पष्ट रूप से इन परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा– **पैमानाः** एक पर्याप्त बड़ी प्रारम्भिक प्रायोगिक परियोजना जो दो–तीन वर्षों में व्यवस्था के बड़े हिस्से में सुधार और शेष हिस्से में उन्हें लागू करने के लिए एक निश्चित समय–सीमा वाली हो।

गहराईः कार्यक्रम के पहले वर्ष में ही व्यवहारों और आचरणों में नापे जा सकने वाले शुरुआती परिवर्तन। साथ ही तीन–चार वर्षों में चुने हुए स्तरों और विषयों में छात्रों के परिणामों की गुणवत्ता में उल्लेखनीय परिवर्तन लाने को सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त शिक्षण पद्धति और कक्षा में प्रदान की जाने वाली पर्याप्त सहायता।

दीर्घकालिक टिकाऊपनः अनेक विकल्पों का उपयोग। जैसे कि सुधारों को आगे ले जाने के लिए एक आंशिक रूप से स्वायत्त ''संस्था''। कुछ त्वरित सफलताओं द्वारा अग्रणी संस्थाओं की सुधारों में निवेश के प्रति सशक्त रुचि जगाना और क्षमता–निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करना। सिलसिलेवार कार्यक्रम–प्रबन्धन, दानदाताओं का सक्रिय दबाव और सम्मानित बाहरी व्यक्तियों द्वारा उत्प्रेरक की भूमिका तथा जवाबदेही पर जोर और व्यवस्था के तात्कालिक रूप से चल रहे बजट में ही सुधारों को समाहित करना।

राज्य के साथ मजबूत तालमेल बनाए रखते हुए जिले को सुधारों की इकाई के रूप में लेनाः भारत में हमारे अनुभवों से हमें लगता है कि सुधारों की सबसे उपयुक्त ''इकाई'' जिला होगी (या बड़े शहरों के मामले में स्वयं शहर ही इकाई होगा)। इसका मतलब होगा कि प्रक्रिया की संरचना (प्रयास, अनुक्रम, और प्रस्तुति की योजना, हर प्रयास की संरचना जैसे कि शिक्षकों की क्षेत्र–आधारित प्रशिक्षण की विस्तृत पद्धति आदि क्या हों) का निर्माण और नियंत्रण जिला स्तर पर होगा और सुधारों को ब्लॉक और स्कूल स्तर पर कसावट के साथ लागू किया जाएगा।

परन्तु, यह बेहद जरूरी है कि रूपान्तरण के प्रयासों के लिए राज्य सरकार शासनादेश प्रदान करे और उनसे मजबूती से जुड़ी रहे। वास्तव में उन्हें ऐसी ''प्रायोगिक परियोजना'' की तरह ले, जिसे आवश्यक संशोधनों के पश्चात सारे राज्य में लागू किया जा सके। उदाहरण के लिए, यदि प्रायोगिक जिले में शिक्षकों को किसी विशेष ढंग से प्रशिक्षित किया जा रहा है तो राज्य की एस.सी.ई.आर.टी. को उस वैकल्पिक पद्धति को एक सशक्त प्रयोग की तरह स्वीकार करना चाहिए जिसे वह सम्भावित रूप से पूरे राज्य में अपना सकती है। नीति–सम्बन्धी प्रयासों (जैसे कि शिक्षकों की भर्ती की कसौटियाँ) या सह–क्रियात्मक ढंग से एक साथ लागू किए जाने वाले प्रयासों (जैसे कि विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि के मूल्यांकन करने का सबसे अच्छा तरीका उसे सारे राज्य में एक साथ करना है) के मामले में यह विशेष रूप से आवश्यक है।

बहुआयामी भागीदारी पद्धतिः भारत के पक्ष में दो बड़े तथ्य उसके नागरिक समाज के संगठनों का समृद्ध ताना–बाना होना और अन्तर्राष्ट्रीय दानदाताओं और उद्योग जगत की लोकोपकारी शाखाओं का एक शक्तिशाली और विस्तृत होता हुआ आधार होना है। पर, हमारे सुधार प्रयासों में अक्सर विभिन्न सम्भावित निकायों की भूमिका या तो अस्पष्ट होती है या उनके सबसे शक्तिशाली पहलुओं के साथ उनका तालमेल नहीं होता। किसी राज्य, जिले या शहर की स्कूल व्यवस्था में रूपान्तरण के लिए स्पष्ट रूप से परिभाषित भूमिकाओं वाली एक बहुआयामी भागीदारी सबसे कारगर ढंग से काम करेगी। **सरकार** सुधारों के लिए शासनादेश, प्रमुख निर्णय, स्वामित्व और प्रमुख अधिकारियों का सहयोग और अपने नियमित बजट के माध्यम से 90 प्रतिशत आवश्यक राशि प्रदान करे। सम्भावित **निवेश सहयोगियों** का एक समूह ''उत्प्रेरक राशि'' – लागत का 10 प्रतिशत से कम, लेकिन उसमें से 90 प्रतिशत का विशेषकर रूपान्तरण के प्रारम्भिक चरणों में असरदार ढंग से उपयोग होना सुनिश्चित करके – जुटाए और सहायता तथा जवाबदेही के लिए संचालन समूह का हिस्सा बने, और रूपान्तरण की समग्र दिशा के सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्रदान करे। **सुधारों को लागू करने में साझेदार लोगों या विशेषज्ञों** का एक समूह जो खास मुद्दों पर विशेष जानकारी प्रदान करने, खास तत्वों को जमीनी तौर पर लागू करने और तकनीकी पहलुओं में क्षमता–निर्माण करने की भूमिका निभाए। अन्त में, एक सम्भावित **कार्यक्रम–प्रबन्धन इकाई** जो कार्यक्रम की एक समान संरचना, सबसे अच्छी पद्धतियों का प्रयोग, सशक्त कार्यक्रम प्रबन्धन, परिणामों पर नजर रखना, व्यवस्था में क्षमता–निर्माण और दीर्घकालिक टिकाऊपन के तत्वों का होना सुनिश्चित करे।

पूरे भारत की स्कूली व्यवस्थाओं के लिए छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि की गुणवत्ता सुधारना एक बेहद जरूरी प्राथमिकता है। स्कूली व्यवस्थाओं में रूपान्तरण के वैश्विक उदाहरण, खासकर वे

जो हमारे जैसी स्थितियों से प्रारम्भ हुए, इसे अपेक्षाकृत कम समय में हासिल करने की प्रेरक सम्भावना, और इसके लिए व्यवस्थित और अच्छे से निर्मित पद्धति की जरूरत, दोनों दर्शाते हैं। हम आशा कर सकते हैं कि इस प्रकार के केन्द्रित प्रयासों के द्वारा भारत के राज्य और शहर शिक्षा की पहुँच और दाखिलों की वर्तमान उपलब्धियों से आगे बढ़कर उच्च गुणवत्ता की शिक्षा के अगले क्षितिज तक पहुँच सकते हैं।

References

1. http://www.mckinsey.com/clientservice/Social_Sector/our_practices/Education/Knowledge_Highlights/How%20School%20Systems%20Get%20Better.aspx
2. Examples of systems that have made this transition include: Chile (from 2001 onward), Minas Gerais in Brazil (2003 onward), Western Cape in South Africa (from 2003 onward)
3. Examples of systems that have made this transition include: Singapore (from 1988 to 1998), Hong Kong (from 1989 to 1999), Boston (from 2006 onward), Long Beach from 2005 onward

---

मोना मुर्शेद मैकिंसी (McKinsey's) के वैश्विक शिक्षा कार्यक्रम की सह–प्रमुख हैं।

राम्या वैंकटरमन भारत में मैकिंसी के शिक्षा कार्यक्रम की प्रमुख हैं।

रमेश मंगलेश्वरन एशिया में मैकिंसी के समग्र सामाजिक क्षेत्र कार्यक्रम के प्रमुख हैं, जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य की देखभाल और आर्थिक विकास शामिल हैं।

07

प्रबन्धन और सार्वजनिक व्यवस्थाएँ – शिक्षा : एक दशा–अध्ययन

दिलीप रांजेकर

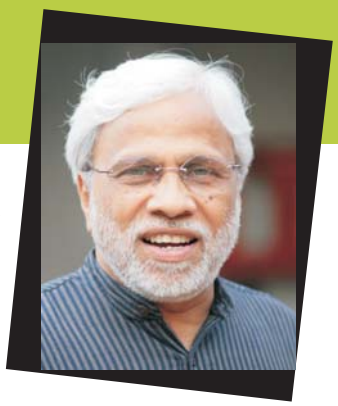

मैं एक प्रशिक्षित प्रबन्धन विशेषज्ञ हूँ। इसलिए नहीं कि मैंने पूरे चार वर्ष औपचारिक प्रबन्धन शिक्षा हासिल की है, बल्कि इसलिए कि मैं बहुत पहले 1976 में एक संगठन में तब शामिल हुआ जब वह परिवर्तन की कगार पर था। औपचारिक शिक्षा ने केवल प्रबन्धन की अवधारणा से मुझे परिचित कराया था, उसके आगे कुछ नहीं। मेरे लिए प्रबन्धन का असली स्कूल वह संगठन था जिसके साथ मैंने 26 वर्षों से भी अधिक समय तक काम किया।

जब मैंने अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ अपना कार्यकाल प्रारम्भ किया तो मैंने गैर–सरकारी संगठनों के संसार में "प्रबन्धन" शब्द के प्रति जबरदस्त प्रतिरोध पाया। हमारे विश्लेषण में, निम्न गुणवत्ता वाली सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था की सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण समस्याओं का सम्बन्ध एक साझा दूरदर्शी कल्पना के न होने, रणनीति के अभाव, अनुपयुक्त ढाँचे, लोगों के निम्न–स्तरीय विकास और ऐसी नीतियों से था जो जन–सशक्तीकरण में सहायक नहीं थीं। इन मुद्दों का सम्बन्ध कुशासन तथा सत्ता के केन्द्रीकरण से था। मुद्दा यह भी था कि जिन निर्णयों से लोग प्रभावित होते हैं, उन्हें लेने की प्रक्रिया में वे भागीदार नहीं होते।

दूसरे शब्दों में, यह एक बड़ी व्यवस्था के प्रभावपूर्ण प्रबन्धन की विकराल समस्या थी।

मैं अपने दावे के समर्थन में केवल सात मुद्दे प्रस्तुत कर रहा हूँ–

1. **शिक्षा की एक साझा दूरदर्शी कल्पना निर्मित करना** : शिक्षा के लिए राष्ट्रीय नीति (नेशनल पॉलिसी फॉर एजुकेशन) अनेक दृष्टियों से देश के लिए एक दूरदर्शी कल्पना का दस्तावेज है। राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा (नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क) एक अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेज है जो देश के लिए शिक्षा के दर्शन का वर्णन करता है। ये दोनों दस्तावेज मिलकर भारत के शिक्षा कार्यक्रम का स्वरूप तय कर देते हैं। परन्तु शिक्षा क्षेत्र में संलग्न (शिक्षकों सहित) अधिकांश लोग इन दोनों दस्तावेजों के बारे में अनजान हैं – यह एक दुखद और चकित करने वाला तथ्य है। जब शिक्षा के जमीनी कार्यक्रम को अंजाम देने वाले अधिकांश लोगों को ही उसकी कार्यसूची का स्पष्ट ज्ञान नहीं है तो आप देश से शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी उपलब्धि हासिल करने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?

2. **परिणामों के लिए जवाबदेही** : यह उक्ति कि "जो नाप लिया जाता है वह कर लिया जाता है" शिक्षा के संचालन के लिए बहुत उपयुक्त बैठती है। सम्पूर्ण देश में दसवीं की बोर्ड परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों में से औसतन 50 प्रतिशत से भी अधिक फेल हो जाते हैं। ऐसे प्रदर्शन के लिए कौन जवाबदेह है? राज्य के शिक्षामंत्री? शिक्षा सचिव? शिक्षक? फिलहाल तो सिर्फ फेल होने वाले विद्यार्थी या उसके माता–पिता को ही जिम्मेदार माना जाता है।

   पाँचवी कक्षा के लगभग 50 प्रतिशत विद्यार्थी अपनी मातृभाषा में सरल पाठ भी नहीं पढ़ पाते। इसे सुनिश्चित करने की जवाबदेही किसकी है? जवाबदेही के लिए सक्षम बनाना है तो आपको दण्ड के जोखिम और पुरस्कार वाला ढाँचा चाहिए जो योग्यता की समुचित पहचान करके बेहतर प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहित करे।

3. **योग्यता–आधारित व्यक्तियों वाली पद्धतियाँ** : कुछ वर्ष पहले मैंने शिक्षक–शिक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर की विशेष समिति में शिक्षकों की नियुक्ति हेतु बी.एड. परीक्षा में प्राप्तांकों की आधार वाली मौजूदा प्रचलित व्यवस्था से आगे बढ़कर अन्य मापदण्ड विकसित करने का मुद्दा उठाया। केवल दो सदस्यों ने मेरा समर्थन किया। जब मैंने सेवा उद्योग से एक उदाहरण दिया जिसने पिछले दस सालों में आतिथ्य (होटल) तथा सेवा उद्योग में लगभग पाँच लाख पेशेवर लोग निर्मित किए, तो सबने मुझे कॉर्पोरेट प्रबन्धन की पृष्ठभूमि वाला निरर्थक व्यक्ति कहकर मेरा मखौल उड़ाया। उनका तर्क था कि सेवा उद्योग में लगे लोगों के काम से शिक्षकों के काम की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि यह अत्यधिक जटिल और देश के भविष्य के लिए अत्यन्त बुनियादी काम है। मैंने तर्क दिया कि फिर ऐसी बेहद महत्वपूर्ण व्यवस्था के लिए केवल बी.एड. के अंकों के आधार पर लोगों का चयन कैसे किया जा सकता है? पर समिति ने मेरे प्रश्नों को अनसुना कर दिया।

4. **बड़े कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उच्च–स्तरीय प्रबन्धन कौशलों की आवश्यकता होती है** : उदाहरण के लिए मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम का वार्षिक बजट लगभग 3 हजार करोड़ रुपए का है और इसकी परिधि में प्राथमिक स्कूलों के लगभग 11 करोड़ बच्चे आते हैं। सरकार की नीति के अनुसार प्रत्येक बच्चे को प्रतिदिन आहार के रूप में लगभग 400 कैलोरी, 12 ग्राम प्रोटीन और सूक्ष्म पोषक तत्व प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है। वास्तव में, इसमें सरकार के तीन विभाग शामिल हैं : शिक्षा विभाग, जिस पर पका हुआ भोजन प्रदान करने की जिम्मेदारी है; खाद्य मंत्रालय, जिसे खाद्यान्न की पर्याप्त मात्रा की आपूर्ति सुनिश्चित करना होती है; तथा पंचायत राज विभाग

जिस पर अन्तिम रूप से स्कूलों तक खाद्यान्न पहुँचाने की जिम्मेदारी होती है। आज हम पाते हैं कि देश भर के विभिन्न स्कूलों में आहार की गुणवत्ता बहुत अलग–अलग है। कैलोरी और प्रोटीन की मात्रा निर्धारित से बहुत कम होती है और सूक्ष्म पोषक तत्व तो लगभग नदारद रहते हैं। यह कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक इसकी योजना ठीक से नहीं बनाई जाती और इसमें शामिल लोग कार्यक्रम का प्रयोजन नहीं समझते।

5. **क्रियान्वयन ही सब कुछ है** : लगभग सभी राज्य सरकारों द्वारा कई प्रोत्साहन कार्यक्रम चलाए जाते हैं जिनमें मुफ्त पाठ्यपुस्तकें, मुफ्त यूनिफॉर्म, लड़कियों के लिए साइकिलें आदि शामिल हैं। बहुत से मामलों में ये लाभ बच्चों तक या तो पहुँचते ही नहीं हैं या बहुत देर से पहुँचते हैं। मिसाल के लिए, यदि पाठ्यपुस्तकें बच्चों तक छह महीने देर से पहुँचती हैं (जैसा कि अकसर होता है) तो उनका बहुत नुकसान होता है। बच्चों को उतने समय बिना पढ़ाई के रहना पड़ता है या अपने माता–पिता को किताबें खरीदने के लिए मजबूर करना पड़ता है, बावजूद इसके कि उनकी आर्थिक स्थिति इस लायक नहीं होती। कई मामलों में, चूँकि मुफ्त यूनिफॉर्म का वितरण समय पर नहीं होता, बच्चों को खुद से खरीदी हुई एक ही यूनिफॉर्म अगले दिन पहनने के लिए रात को धोना पड़ता है। यहाँ तक कि फट जाने पर भी उसे ही पहनते रहना पड़ता है।

6. **प्रमुख संस्थाओं का प्रदर्शन** : अपनी नीतियों को अमल में लाने के लिए सरकार ने कई संस्थाएँ, जैसे कि एन.सी.ई.आर.टी., एन.यू.ई.पी.ए., डी.एस.सी.ई.आर.टी, डी.आई.ई.टी. और ब्लॉक तथा क्लस्टर स्तर पर संसाधन एजेंसियाँ निर्मित की हैं। आज ये संस्थाएँ अनेक कमजोरियों से ग्रस्त हैं। इसके कई कारण हैं – महत्वपूर्ण पदों का खाली रहना, पर्याप्त मूलभूत सुविधाओं और गुणवत्ता के मानदण्डों का न होना, लोगों की नियुक्ति आवश्यक योग्यता के आधार पर न होना (खासतौर से जिला स्तर पर तो अनेक पद काम न करने वालों को बस वहाँ आराम की अवस्था में बैठा देने के लिए होते हैं)। सबसे खास बात है इन संस्थाओं के कार्य–प्रदर्शन की कोई निगरानी न होना। राष्ट्रीय शिक्षानीति में स्पष्ट रूप से सभी सम्बन्धित संस्थाओं और प्रक्रियाओं के लगातार पुनरीक्षण के लिए संसाधन मुहैया कराने की जरूरत का उल्लेख किया है।

7. **उपलब्ध वित्तीय संसाधनों से सर्वश्रेष्ठ परिणाम हासिल करना** : देश में स्कूली शिक्षा पर होने वाला व्यय कुल मिलाकर लगभग 63 हजार करोड़ रुपए प्रतिवर्ष से अधिक होता है। इस राशि का 90 प्रतिशत शिक्षकों के वेतन पर खर्च होता है – पर यह सुनिश्चित करने का शायद ही कोई प्रयास किया जाता है कि शिक्षकों को अपनी अपेक्षित भूमिका निभाने के लिए ठीक से तैयार और विकसित किया जाए। कार्यरत शिक्षकों के विकास के लिए लगभग 1 हजार करोड़ रुपए का प्रावधान होता है पर कोई भी शिक्षक अपने काम के लिए इस प्रशिक्षण को उपयोगी नहीं पाता। सफल कॉर्पोरेट संगठन काम करने वाले अपने लोगों पर होने वाले खर्च का पाँच प्रतिशत तक व्यवस्था के सुचारु ढंग से काम करने पर खर्च करते हैं। पर सरकारी तन्त्र ऐसी अवधारणा के प्रति सर्वथा अनजान है।

विशेष रूप से भारत जैसे सामाजिक–आर्थिक, सांस्कृतिक और भाषाई विविधता वाले देश में शिक्षा एक जटिल प्रक्रिया है। यहाँ बहुत उच्च स्तर की कार्यकुशलता, सटीकता और बारीकी से बनाई गई योजना तथा निगरानी के साथ कार्यवाही करने की जरूरत है। ये सब और कुछ नहीं बल्कि प्रबन्धन के मुद्दे ही हैं।

हमारा देश 30 राज्यों और 640 जिलों में फैले 13 लाख स्कूलों को सम्भालने का प्रयास कर रहा है, जिनसे 22 करोड़ भविष्य के नागरिक. बच्चों को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा की जाती है। इस काम को अंजाम देने में 65 लाख शिक्षाकर्मी लगे हुए हैं। लगातार राजनैतिक हस्तक्षेप, धन का अत्यधिक रिसाव, हर स्तर पर लोगों के द्वारा लाभ उठाने की कोशिश, और जवाबदेही को प्रोत्साहित करने के लिए जोखिम–पुरस्कार पद्धति का पूर्णतया अभाव आदि इस परिस्थिति को और भी विकट बना देते हैं। नौकरशाहों का अकसर तबादला कर दिया जाता है जिसके कारण योजना और दृष्टिकोण में व्यवधान आ जाता है।

शिक्षा जैसे हितकारी क्षेत्र के इतने विशाल बन्दोबस्त का संचालन–प्रबन्धन करने के लिए अत्यन्त कुशल और भलीभाँति गढ़ी गई सार्वजनिक व्यवस्थाएँ होनी चाहिए।

दिलीप रांजेकर अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के मुख्य कार्यकारी अधिकारी हैं। उनसे dkr@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

खण्ड ब

कुछ परिप्रेक्ष्य

08 स्कूल नेतृत्व पर कुछ विचार

विमला रामचन्द्रन

मैं शोधकर्ताओं के एक समूह की सदस्य रही हूँ। उनके साथ बिताए छह महीने मेरे लिए शिक्षाप्रद अनुभव रहे हैं। यह समूह सरकारी स्कूलों में गुणवत्तापूर्ण और सबको शामिल करने वाली शिक्षा के लिए विकेन्द्रित स्कूल–प्रबन्धन में अच्छी परिपाटियों की खोज कर रहा था। हमें जानकारी मिली कि नागालैण्ड में सामुदायीकरण की पहल एक अच्छा मॉडल है। इसके तहत प्राथमिक स्कूल,स्वास्थ्य और बाल–विकास आदि कार्यक्रमों के दिन–प्रतिदिन का प्रबन्धन ग्राम सभा के रूप में स्थानीय समुदाय को सौंप दिया गया है।

हमारा पड़ाव दीमापुर के निकट का एक स्कूल था जहाँ हमें ग्रामसभा प्रमुख के नेतृत्व में पालकों, स्कूल के प्रधानाध्यापक तथा ग्राम शिक्षा समिति (विलेज एजुकेशन कमेटी, वी.ई.सी.) के सदस्यों तथा कुछ स्थानीय नेताओं के एक समूह से मिलना था। हमें बताया गया कि सामुदायीकरण की प्रक्रिया के ही तहत वी.ई.सी. को स्कूल के संचालन का अधिकार दिया गया है। कमेटी वेतन बाँटती है, शिक्षकों और स्कूल के अन्य कर्मचारियों को अवकाश प्रदान करती है, फर्नीचर और स्टेशनरी मँगवाती है और दीर्घकालिक रिक्त पदों पर वैकल्पिक शिक्षकों की नियुक्ति करती है। उसे 'काम नहीं तो वेतन नहीं' के नियम को लागू करने का अधिकार प्राप्त है और बिना कारण तथा उचित अवकाश आवेदन के स्कूल से अनुपस्थित रहने पर अनुपस्थिति वाले दिनों का वेतन रोकने का अधिकार भी है। कमेटी बच्चों का पूर्ण नामांकन और उनका स्कूल में बना रहना सुनिश्चित करने के लिए प्रधानाध्यापक के साथ काम करती है। कमेटी स्कूल के वित्तीय साधनों का भी प्रबन्धन करती है और आवश्यकता पड़ने पर नगद राशि और सामग्री के रूप में अतिरिक्त संसाधन भी जुटाती है। पर इस बात पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि कमेटी स्वयं को शैक्षणिक मामलों में किसी भी प्रकार का नेतृत्व प्रदान करने वाला नहीं मानती। रोचक तथ्य यह था कि वी.ई.सी. के अध्यक्ष और प्रधानाध्यापक मिलकर एक सहयोगी दल की तरह काम करते हैं – वे स्कूल को नेतृत्व देते हैं। नागालैण्ड सरकार का सामुदायीकरण कानून शक्तियों और अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के लिए कानूनी ढाँचा प्रदान करता है।

अन्य राज्यों में कुछ सुप्रबन्धित स्कूलों के दौरों से भी प्रकट हुआ कि प्रधानाध्यापक अकेले कुछ करने में समर्थ नहीं होते। वे प्रभावशाली नेतृत्व तभी दे सकते हैं जब (क) उन्हें शिक्षकों को संचालित करने का प्रशासनिक अधिकार हो – जिसमें उनकी नियमितता सुनिश्चित करना, अवकाश प्रदान करना और अतिरिक्त कर्तव्यों का उचित समावेश करना शामिल हो; (ख) उनका स्थानीय वी.ई.सी. या मददगार स्कूल विकास एवं प्रबन्धन समिति (स्कूल डेवलपमैण्ट एण्ड मैनेजमेण्ट कमेटी. एस.डी.एम.सी.) के साथ काम करने में अच्छा तालमेल हो; (ग) उन्हें देख–रेख करने वाली, ऊपर की प्रशासनिक संस्थाओं, जैसे ब्लॉक एवं क्लस्टर संसाधन केन्द्रों और ब्लॉक शिक्षा अधिकारी का सहयोग प्राप्त हो ; (घ) उन्हें धन राशियाँ नियमित रूप से मिलें और बच्चों के लिए निर्धारित सभी प्रोत्साहन राशियाँ एवं सामग्री समय पर प्राप्त हों; तथा (ड.) सबसे महत्वपूर्ण यह है कि आवश्यकता पड़ने पर वे शिक्षकों के लिए शैक्षणिक सहायता सुनिश्चित कर सकें और क्षमता निर्माण की उनकी जरूरतों को तय कर सकें।

स्कूल के स्तर पर नेतृत्व एक जटिल मुद्दा है – एक अत्यन्त समर्पित और सृजनशील प्रधानाध्यापक यह सुनिश्चित करने के लिए बहुत कुछ कर सकता है कि उसका स्कूल एक सुगठित और सुचारु रूप से चलने वाली संस्था हो। वहाँ बच्चों की देखभाल हो तथा उन्हें विकासात्मक वातावरण में पढ़ाया जाए। लेकिन ऐसे नायक बिरले ही होते हैं। अधिकांश प्रधानाध्यापक कहते हैं कि सहायक वातावरण और आवश्यक प्रशासनिक अधिकार के अभाव में वे अधिक कुछ नहीं कर पाते।

> *अधिकांश प्रधानाध्यापक कहते हैं कि सहायक वातावरण और आवश्यक प्रशासनिक अधिकार के अभाव में वे अधिक कुछ नहीं कर पाते।*

हमारे द्वारा लिए गए साक्षात्कारों में अनेक प्रधान शिक्षकों ने कहा कि वे अधिक से अधिक यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि शिक्षक उपस्थित रहें; यह सुनिश्चत करना उनके वश में नहीं है कि शिक्षक पढ़ाएँ भी। उनके लिए यह पक्का कर पाना भी मुमकिन नहीं है कि शिक्षकों को कोई बाहरी जिम्मेदारियाँ सौंपे जाने पर रोक लग सके। उदाहरण के लिए, हमने पाया कि शिक्षा के अधिकार के कानून के पारित होने के पहले राजस्थान में शिक्षकों को जिला प्रशासन द्वारा अतिरिक्त काम दिया गया था, और कुछ को स्व–सहायता समूहों की निगरानी करने के लिए भी कहा गया था। पश्चिम बंगाल में शिक्षक राजनैतिक, दलगत काम में व्यस्त थे। अनेक राज्यों में शिक्षक अनुपस्थित थे और पता चला कि वे अपने निजी व्यवसायों में लगे हुए थे। इसलिए, जब शिक्षक उपस्थित होते थे तो भी स्कूलों में शिक्षण का समय तो सीमित ही रहता था। प्रधानाध्यापकों ने यह भी

कहा कि यदि शिक्षक अपने मोबाइल फोन पर बतियाने पर समय बिताते हैं तो भी सत्ता और संरक्षण के अनौपचारिक तन्त्र के चलते वे कुछ नहीं कर सकते। शिक्षकों के अनुपस्थित रहने और उनमें प्रेरणा तथा प्रोत्साहन न होने की समस्या की जड़ सम्बन्धित राज्य के संचालन–प्रबन्धन की विशिष्ट प्रकृति और स्वभाव में ही होती है। जैसा रश्मि शर्मा कहती हैं, "काम के प्रति शिक्षकों के लगाव को उन संकेतों की पृष्ठभूमि में देखे जाने की जरूरत है जो शिक्षक को उस निरीक्षण के माध्यम से दिए जा रहे थे जिसका सीखने–सिखाने की प्रक्रिया से तनिक भी सम्बन्ध नहीं था, जिसमें अकादमिक संसाधनों का बहुत ही अल्प सहयोग था तथा राजस्थान के मामले में, तबादलों की धमकी थी।'' (शर्मा एवं रामचन्द्रन, 2009)

नागालैण्ड का उदाहरण अपनी ही तरह का अनूठा उदाहरण है। बुनियादी मुद्दा यह है कि विकेन्द्रीकरण और उत्तरोत्तर अधिक सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से सर्वांगीण सुधारों की सिफारिश बार–बार की गई है। लेकिन कठोर वास्तविकता यह है कि लोगों की भागीदारी की गुंजाइश का घनिष्ठ सम्बन्ध राज्य के प्रशासनिक और राजनैतिक प्रचलनों से होता है। एक नायक को जिम्मेदारी सौंपते हुए स्कूलों को उसके काम करने में स्वायत्त बनाने का मसला भी बृहत्तर प्रशासनिक और राजनैतिक परिवेश से जुड़ा हुआ है। जहाँ औपचारिक व्यवस्था केन्द्रीकरण को बढ़ावा देती है तथा अनौपचारिक उप–व्यवस्था उसे और प्रबल बना देती है, वहाँ प्रधानाध्यापक तथा समुदाय–आधारित संस्थाएँ हाशिए पर चली जाती हैं, उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है। इसी तरह, जहाँ औपचारिक व्यवस्था प्रधानाध्यापक को अधिकार सौंपती है, वहीं अनौपचारिक व्यवस्था उसे कमजोर भी कर सकती है – यह सुनिश्चित करके कि प्रधानाध्यापक का शिक्षकों पर कोई वश न हो। न तो अवकाश प्रदान करने पर, न उपस्थिति सुनिश्चित करने पर और न ही शिक्षण के लिए पर्याप्त समय सुनिश्चित करने पर; और शिक्षक–प्रशिक्षण हेतु निर्णायक अधिकार जैसे आवश्यक पहलुओं के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है।

एक नायक को जिम्मेदारी सौंपते हुए स्कूलों को उनके काम करने में स्वायत्त बनाने का मसला भी बृहत्तर प्रशासनिक और राजनैतिक परिवेश से जुड़ा हुआ है। जहाँ औपचारिक व्यवस्था केन्द्रीकरण को बढ़ावा देती है तथा अनौपचारिक उप–व्यवस्था उसे और प्रबल बना देती है, वहाँ प्रधानाध्यापक तथा समुदाय–आधारित संस्थाएँ हाशिए पर चली जाती हैं, उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है।

आवश्यकता है कि विभिन्न स्तरों पर स्वायत्तता के साथ काम के अवसर निर्मित करने के लिए समूची शिक्षा व्यवस्था को तैयार किया जाए। स्वतंत्रता–पूर्व के दौर की विरासत के चलते इस व्यवस्था को चलाने वाली ताकत केन्द्रीकरण और नियंत्रण की ताकत रही है। यहाँ तक कि 73वें संविधान संशोधन के द्वारा स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को अधिकार सौंपे जाने के बाद भी स्कूल एक संस्था के रूप में पंचायत के अधिकार–क्षेत्र से बाहर ही है। शिक्षक और प्रधानाध्यापक को अभी भी ऐसे सरकारी कर्मचारियों की तरह देखा जाता है जो जिला और राज्य प्रशासन में अपने आला अधिकारियों के प्रति जवाबदेह हैं। पूरे पदानुक्रम में उनकी एक निश्चित, निर्धारित जगह और हैसियत है। अनेक अध्ययनों ने दर्शाया है, स्कूल के संचालन के तौर–तरीके पर उनका लगभग कोई वश नहीं चलता। स्कूल के लगभग सभी पहलू उच्च स्तरों पर निर्धारित होते हैं – जिससे प्रधानाध्यापकों और उनके शिक्षकों के लिए सरकारी आदेशों को लागू करने की भूमिका ही शेष रह जाती है।

क्या शिक्षा का अधिकार कानून (आर.टी.ई.) जमीनी हकीकत में बदलाव ला सकता है?

शिक्षा का यह नया संवैधानिक अधिकार स्कूल चलाए जाने के मौजूदा तरीके में दूरगामी परिवर्तन प्रस्तावित करता है। पहला, यह कानून परिभाषित करता है कि स्कूल क्या है। यह विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त अधिकारी का भी स्पष्ट उल्लेख करता है। स्थानीय प्राधिकरण (नगर निगम/पालिका, जिला परिषद, नगर परिषद और पंचायत) को स्कूल की उपलब्धता सुनिश्चित करना है, सभी बच्चों को स्कूल में भरती करवाना है, अपने क्षेत्र के सभी बच्चों के रिकॉर्ड रखना है, स्थानीय कैलेण्डर भी तय करना है और आर.टी.ई. कानून के प्रावधान के अनुकूल शिक्षकों की पर्याप्त संख्या को सुनिश्चित करना है। दिलचस्प बात यह है कि गुणवत्ता सुनिश्चित करने का जिम्मा स्थानीय प्राधिकरण पर छोड़ दिया गया है, पर बच्चों को प्रवेश देने, आयु के अनुसार उचित प्रवेश सुनिश्चित करने, विशेष प्रशिक्षण आयोजित करने, किसी भी प्रकार के शारीरिक दण्ड न देने और बच्चों को सीखने का सौहार्दपूर्ण वातावरण प्रदान करने में आर.टी.ई. कानून के मानदण्डों का पालन करने की अपेक्षा स्वयं स्कूल से की गई है। इसके बाद यह कानून एस.डी.एम.सी. की जिम्मेदारियों का उल्लेख करता है – और इसका प्रमुख कार्य स्कूल के विकास की योजना तैयार करना है।

आर.टी.ई. कानून स्कूल स्तर पर नेतृत्व को बढ़ावा देने का प्रयास करता है। यह कोशिश एस.डी.एम.सी. के माध्यम से होगी जिसे स्कूल की विकास योजना तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। इस विकास योजना में स्कूल की सभी जरूरतें प्रतिबिम्बित होनी चाहिए – मूलभूत ढाँचा, शिक्षक, सुविधाएँ, पुस्तकालय, खेल का मैदान, पुस्तकें, मध्यान्ह भोजन, स्वच्छता और पानी का समुचित

ध्यान रखा जाना चाहिए। रोचक बात है कि शिक्षकों की नियुक्ति अभी भी सरकार के द्वारा ही होगी, उन्हें एस.डी.एम.सी. के दायरे में नहीं लाया गया है।

अभी भी बहुत से प्रश्न अनुत्तरित हैं।

- स्कूल स्तर का नेतृत्व कौन प्रदान करेगाः एस.डी.एम.सी. का अध्यक्ष या प्रधानाध्यापक?
- क्या एस.डी.एम.सी. एक नियुक्त की गई समिति होगी या इसे चुना जाएगा?
- यदि इसे नियुक्त किया जाएगा तो इसके सदस्यों को नामांकित करने का अधिकार किसे होगा?क्या उसमें पंचायत का दखल होगा? या कि ब्लॉक या क्लस्टर स्तर का शिक्षा प्रशासन उन्हें नामांकित करेगा?
- क्या प्रधानाध्यापक और शिक्षक एस.डी.एम.सी. के अधिकार क्षेत्र में आएँगे या वे उससे स्वतंत्र रहेंगे?
- शिक्षक किसके प्रति जवाबदेह होंगे? प्रधानाध्यापक के? एस.डी.एम.सी. के? स्थानीय प्रशासन के?

अन्ततः स्कूल नेतृत्व का प्रश्न जटिल रूप से बृहद व्यवस्था से जुड़ा है, उसे इससे अलग नहीं किया जा सकता। कई राज्यों का दौरा करने और शिक्षकों से बात करने के बाद मेरे मन में और भी अधिक प्रश्न खड़े हो गए हैं। शिक्षा व्यवस्था नेतृत्व प्रदान करने के लिए प्रधानाध्यापक की ओर नहीं देखती – वास्तव में जिन प्रधानाध्यापकों से हमने बात की, उनमें से अधिकांश ने कहा कि स्कूल के संचालन के लिए उन्हें कमोबेश कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं मिला। आर.टी.ई. कानून और प्रशासक स्कूलों में नेतृत्व प्रदान करने के लिए एस.डी.एम.सी. की ओर देखते हैं। लेकिन लगभग सभी राज्यों में एस.डी.एम.सी. के अध्यक्ष और उसके अधिकांश सदस्य स्वयं अपने बच्चों को स्थानीय सरकारी स्कूल में नहीं भेजते। नागालैण्ड में भी यही स्थिति थी। समुदाय में शक्ति सम्बन्धों को देखें और इस तथ्य पर गौर करें कि सरकारी स्कूल बहुत गरीब लोगों के लिए ही रह गए हैं, तो हम कह सकते हैं कि स्कूलों में प्रदान की जा रही शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने में एस.डी.एम.सी. के नेतृत्व का कोई दाँव नहीं लगा होगा, कोई वास्तविक दिलचस्पी नहीं होगी। ज्यादा से ज्यादा वे शायद इसके बुनियादी ढाँचे और सुविधाओं को थोड़ी अधिक पारदर्शिता से संचालित करने का प्रयास ही करें।

नेतृत्व का मुद्दा विकेन्द्रीकरण और अधिकारों तथा शक्तियों के वितरण की व्यापक बहस में कहीं खो गया है। आर.टी.ई. कानून भी इस बारे में स्पष्ट नहीं है। केवल एन.सी.एफ. 2005 ने कार्यकारी माध्यम की तरह शिक्षक की भूमिका और उसकी स्वायत्तता के महत्व को रेखांकित किया था – लेकिन तब से इसके बारे में हमने कुछ अधिक चर्चा नहीं सुनी है। यह हमारे स्कूलों के लिए या उनमें नेतृत्व के लिए शुभ संकेत नहीं है।

विमला रामचन्द्रन शिक्षा तथा सशक्तीकरण पर काम कर रहे शोधकर्ताओं व प्रयोगकर्ताओं के एक समूह एजुकेशनल रिसोर्स यूनिट की निदेशक हैं। वे भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा विभाग के अन्तर्गत महिलाओं की शिक्षा के लिए बने कार्यक्रम महिला समाख्या (1988–1993) तैयार करने वालों में से एक तथा उसकी पहली राष्ट्रीय परियोजना निदेशक थीं। वे महिलाओं के एक स्वास्थ्य नेटवर्क, हैल्थवॉच, की संस्थापक हैं और 1994 से 2004 तक वे उसकी ट्रस्टी (प्रबन्ध न्यासी) भी रहीं हैं। प्राथमिक शिक्षा, लैंगिक मुद्दों और महिला सशक्तीकरण पर उनके कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उनसे erudelhi@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

09 स्कूल प्रशासनः मानवीयता और सजीवता के लिए

जी. गौतम

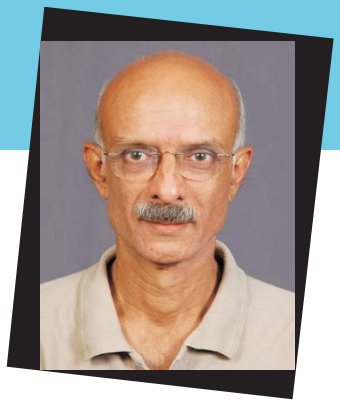

शिक्षण और कुछ नहीं बस सहज विवेक है। ***–जे. कृष्णमूर्ति***

हम सही हैं, इसके बारे में दृढ़ होना हठधर्मिता नहीं है; पर यह सोचने में असमर्थ होना कि शायद हमसे कहीं गलती हो गई होगी, हठधर्मिता है। ***–जी. के. चेस्टरस्टन***

अल्पमत कभी–कभी सही भी होता है; बहुमत हमेशा ही गलत होता है। ***–जॉर्ज बर्नाड शॉ***

प्रशासनः

- किसी व्यवसाय, संगठन आदि को चलाने की प्रक्रिया या गतिविधि। इसके लिए जिम्मेदार लोगों को सामूहिक रूप से देखना।
- कार्यकारी कर्तव्यों को निभाना।

(वैबस्टर शब्दकोश)

प्रशासन। यह शब्द अपने साथ प्रभुता, तटस्थता का एक घेरा; एक रोगाणुरोधक गंध लिए रहता है। अतः शब्द के साथ शुरुआत करना खराब शुरुआत होगी। चलिए कोई दूसरा प्रारम्भ बिन्दु सोचें।

स्कूलों के अपने ढाँचे और प्रक्रियाएँ होती हैं। कुछ सोचे समझे होते हैं; किसी स्कूल की नियंता संस्था या कर्मचारियों की सोच की उपज। बाकी अनपेक्षित ढंग से सामने आती हैं – वे सम्भवतः नियोजित नहीं होतीं–पर वे वास्तविक और मूर्त होती हैं।

यह कहा जा सकता है कि प्रशासन 'सोचे–विचारे व गैर सोचे–समझे ढाँचों व प्रक्रियाओं पर दिया जाने वाला ध्यान' होता है। खासतौर पर स्कूलों में, 'प्रधानाध्यापक' या 'प्राचार्य' जैसे पदों के चलते, प्रशासन का मतलब एक व्यक्ति का 'नियंत्रण' प्रतीत होता है। इससे ज्यादा भ्रामक बात और कोई नहीं हो सकती। यदि प्रशासन किसी स्कूल की 'संस्कृति' का आशय भी देना चाहे, अर्थात जिस तरह से चीजें की जाती हैं, तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि क्यों प्रशासन कभी भी सिर्फ एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होता।

हम ऐसे दौर में रह रहे हैं जहाँ जबरदस्त बाह्य परिवर्तन हो रहे हैं। नगर नए आकार ले रहे हैं। कार्यक्षेत्रों का रूपान्तरण हो रहा है और गतिशीलता आसान हो गई है। 'जीवनभर सीखना' आज न केवल एक रूपक बल्कि एक वास्तविकता बनकर यहाँ मौजूद है। इन्टरनेट पर जानकारियों की सुलभता, ईमेल के द्वारा दुनियाभर में पहुँच होना तथा वीडियो कॉन्फ्रैन्सिंग जैसे परिदृश्यों ने 'ज्ञान' और 'समझ' जैसे शब्दों को नए अर्थ दे दिए हैं। अपनी विद्वता का प्रदर्शन करने के बजाय हमसे हमारी सीखने, पुनर्अनुकूलन कर पाने और मिलकर कार्य करने की क्षमता दर्शाने के लिए कहा जा रहा है। स्थापित कार्यपद्धतियों की सुरक्षा को साथ लेकर चलने के बजाय हमें इस आश्वासन के बगैर, कि यह निश्चित रूप से सुधार ही है, पुरानी जमीन से हटने की चुनौती दी जा रही है।

यह दौर मनुष्यों से पहले की ज्ञात सुरक्षाएँ छीने ले रहा है, और साथ ही नई असुरक्षाएँ– आतंक, युद्ध, प्राकृतिक आपदाएँ– दुखद नियमितता के साथ सामने आती जाती हैं। समाज में खलबली मची हुई है। आने वाले कल के प्रत्येक कदम पर बदलाव और पुनर्अनुकूलन दिखाई दे रहा है। काम के घण्टों में लचीलापन तथा कहीं भी और कभी भी सीख सकना स्कूल के लिए जबरदस्त महत्व रखने वाली दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। कक्षाओं व समय–सारणियों की ढाँचागत व्यवस्थाओं पर भी सवाल खड़े किए जा रहे हैं और इन सम्भावनाओं द्वारा उन्हें भी पुनर्व्यवस्थित किया जा रहा है। इस प्रकार अब कोई भी स्कूल इस दौर की इन रूपान्तरकारी ताकतों के प्रति आँखे मूँदे नहीं रह सकता।

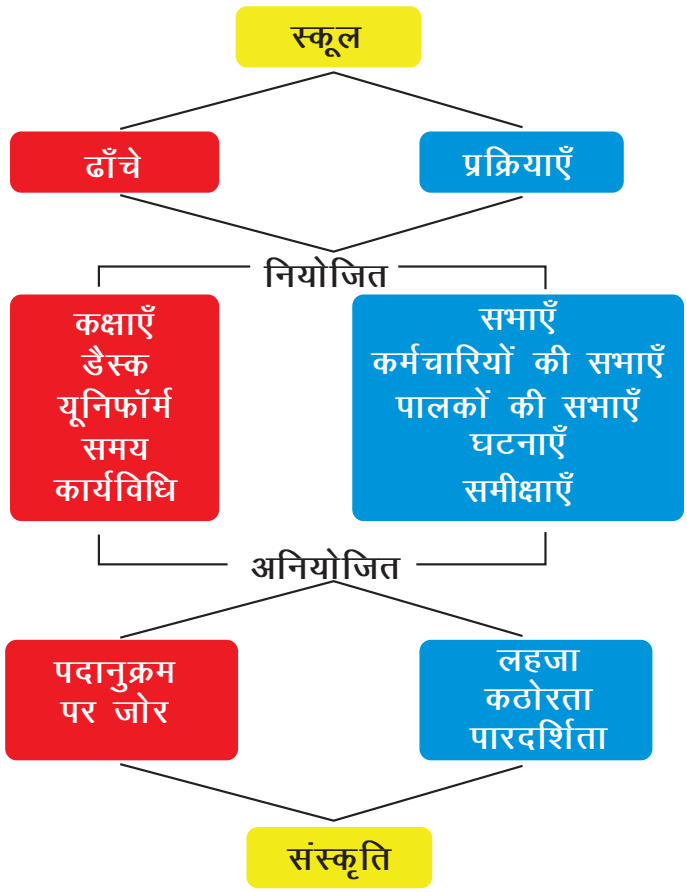

सलाह–मशविरे की संस्कृति जरूरी है। कोई एक अकेला व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि उसके पास सर्वोत्तम विचार या सर्वश्रेष्ठ समाधान है। खुलेपन, पूर्वाग्रह, सहयोग, साझे उद्देश्यों के बारे में प्रश्न उठना बहुत स्वाभाविक है। विद्यार्थियों को शिक्षित करने की इस साझी यात्रा में उद्देश्यों को स्पष्ट करने की जरूरत कई बार पड़ेगी। नए दृष्टिकोणों, मुश्किल दृष्टिकोणों तथा चौंका देने वाले रोमांचक दृष्टिकोणों के मुताबिक कार्य करने के लिए धैर्य की जरूरत होगी। हमारे अनुकूलन को चुनौती मिलेगी।

सभी छोटे–छोटे निर्णयों से ही, चाहे वे साभिप्राय लिए गए हों चाहे अचेतन मन से, किसी स्कूल की संरचना, उसकी प्रकृति निर्मित होती है। भले ही उस पर कितना भी काम किया गया हो, पर किसी भी स्कूल की संस्कृति में मशीनी परिष्करण नहीं होगा। उसका स्पर्श या प्रकृति किसी हाथ से बुने गए कपड़े की भाँति ही होगी क्योंकि उसमें मनुष्य व उनके द्वारा लिए गए निर्णय समाहित होते हैं। लोग कभी भी मशीन जैसी सटीकता के साथ काम नहीं करते। यही उनकी खूबसूरती और यही उनकी समस्या भी है। बहुत सी परिस्थितियों में शिक्षक द्वारा महसूस किए जाने वाले अनियोजित दबावों के दौरान, तथा नियोजित प्रयासों में, स्कूल की आत्मा प्रकट होती है। ऐसी स्थितियों में ही लोग आधारभूत मूल्यों, तथा किसी संस्था का मार्गदर्शन करने वाली निश्चितताओं व आशंकाओं के प्रति जागरूक होते हैं।

नए विचार कुछ वायदों को निभाते वक्त व्यक्तिगत असुविधा के स्तरों को बढ़ा देंगे। हमेशा ही ये तीन मुख्य मुद्दे रहेंगे –

- मानवीय असफलताओं के लिए हमेशा ही संस्थाओं के पास सहयोग व सराहना की संस्कृति का होना जरूरी होगा।
- साथ ही साथ, नए विचारों का स्वागत किया जाना होगा और क्रियान्वयन में आने वाले उतारों को सहन करना होगा।
- प्रोत्साहित करना तथा हमारे संवादों में दोष से मुक्त रहना बेहद महत्वपूर्ण होगा।

प्रभुत्व, जैसा कि उसे पारम्परिक रूप से परिभाषित किया जाता है, ने अपनी गति और प्रभावोत्पादकता खो दी है, और आज उसे पिछड़ेपन की निशानी माना जाता है। किसी नेता या बॉस में बिना दृढ़ विश्वास किए हुए अनुकरण करना कमजोर बुद्धि की निशानी है। बराबरी के दर्जे से सवाल उठाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिस तरह से द्वितीय विश्वयुद्ध से स्त्री–मुक्ति की मुहिम को जबरदस्त बल मिला था, ठीक उसी तरह कम्प्यूटर उद्योग ने सफलता के पारम्परिक मन्दिरों, संगठनों में बेअदब सवाल खड़े करने के युग का प्रारम्भ किया है। मजदूरों के काम करने के ऐसे स्थान सफल संगठन नहीं होते जहाँ से शोषण की बू आती हो, या जहाँ उन मजदूरों को वश में करने के लिए सामन्ती या औपनिवेशिक कोड़ों का इस्तेमाल किया जाता हो; बल्कि सफल संगठन वे स्थान होते हैं जो पारदर्शिता और समता को सम्मानजनक पारस्परिक व्यवहार व लेन–देन के देदीप्यमान तत्व के रूप में बड़े गर्व के साथ धारण करते हों। अधिकारवादी सिद्धान्त बखूबी प्रमाणित व सर्वविदित हैं। समतावादी सिद्धान्त भी बखूबी प्रमाणित हैं पर उतने ज्ञात नहीं हैं। सीखने के पालने के रूप में स्कूलों को वर्तमान समय से आगे रहना होगा और भविष्य का पूर्वानुमान लगाते हुए इन सिद्धान्तों को मजबूती से आत्मसात करना होगा। आगे बढ़ने से पहले, हमें यह स्वीकार करना होगा कि **अधिकांश स्थानों पर समतावादी ढंग की कार्यपद्धति अजीब सी लगती है।** हमारे अपने–अपने व्यक्तिगत इतिहास और मानव जाति का इतिहास हमें इस कार्यपद्धति पर पूर्णतः भरोसा करने से रोकता है। फिर भी, आगे बढ़ने का यही एक मार्ग है।

स्कूल प्रशासन के बारे में बात करने के प्रयास में, व्यावहारिक बुद्धि के साथ शुरुआत करना सबसे अच्छा रहेगा। यह बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है कि कोई भी प्रशासन **सम्मान, निष्पक्षता और पारदर्शिता** के आधारों पर निर्मित होना चाहिए। इन तीनों को **देखभाल** के छाते के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

यह ध्यान रखना होगा कि किसी संस्था में निष्पक्षता की कमी होना उसके ताने–बाने को अपरिवर्तनीय ढंग से कमजोर कर देता है। निष्पक्षता को सभी के द्वारा देखा जाना चाहिए और वातावरण में महसूस किया जाना चाहिए।

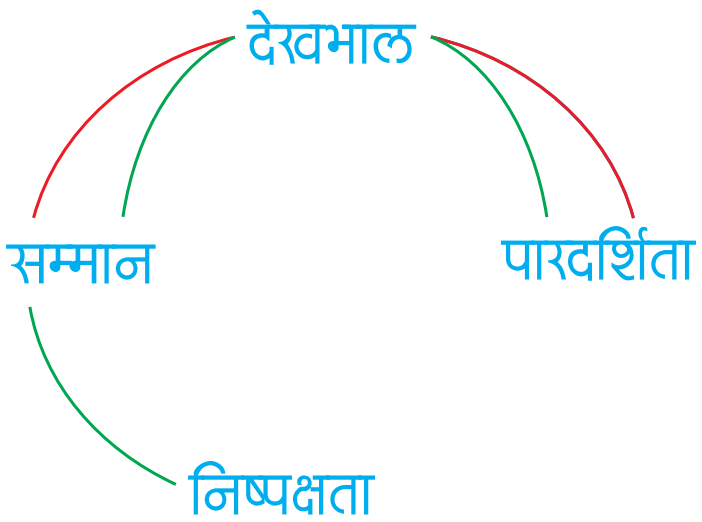

किसी स्कूल की प्रक्रियाएँ दूसरे समूहों–संगठनों की प्रक्रियाओं से अलग नहीं होतीं। सभी संस्थाएँ मोटे तौर पर एक ही प्रकार की या मिलती–जुलती परिस्थितियों का सामना करती हैं। भिन्नता सिर्फ उनके सामना करने के तरीकों में होती है। साझे स्थानों, जैसे संस्थाओं और संगठनों में मिल–जुलकर काम करना अपरिहार्य होता है। स्कूल कोई अपवाद नहीं हैं।

''एक सही ढंग के स्कूल में सभी शिक्षकों के बीच एक उदार सहयोग का माहौल होना चाहिए। सभी शिक्षकों को अक्सर मिलते रहना चाहिए तथा स्कूल की विभिन्न समस्याओं के बारे में बात करना चाहिए; और जब वे किसी कार्यविधि को लेकर सहमत हो चुके हों, तो जाहिर है कि उन्हें उसे अमल में लाने में कोई दिक्कत नहीं होना चाहिए। यदि बहुमत द्वारा लिए गए किसी निर्णय से कोई शिक्षक सहमत नहीं होता, तो उस पर शिक्षकों की अगली सभा में चर्चा की जा सकती है।

किसी भी शिक्षक को प्रधानाध्यापक से नहीं डरना चाहिए, न ही बुजुर्ग शिक्षकों से भयभीत होना चाहिए। खुशी–खुशी समझौता तभी हो सकता है जब सभी के बीच पूर्ण समानता की भावना हो। यह अत्यावश्यक है कि सही तरह के स्कूल में समानता की यह भावना बनी रहे, क्योंकि वास्तविक सहयोग तभी हो सकता है जब श्रेष्ठता और उसकी विपरीत भावना नदारद हों। यदि आपसी विश्वास हो, तो किसी भी मुश्किल या गलतफहमी को बस एक तरफ नहीं रख दिया जाएगा, बल्कि उसे हल किया जाएगा और भरोसे को पुनः कायम किया जाएगा।''

– जे. कृष्णमूर्ति,
शिक्षा तथा जीवन का महत्व

यह एक वक्तव्य किसी व्यक्ति की चेतना में और किसी संस्था की चेतना में समाविष्ट हो जाने पर उसकी संस्कृति को मौलिक रूप से प्रभावित कर सकता है। दुर्भाग्यवश, हम आमतौर पर इस वक्तव्य को शंका, घबराहट, अनिश्चितता और अविश्वास के साथ देखते हैं। इस वक्तव्य के कुछ उपसिद्धान्त और विस्तार भी पेश किए जा सकते हैं – अधिकांश स्वयंसिद्ध प्रतीत हो सकते हैं।

जब विभिन्न लोग एक साथ मिलकर काम करेंगे तो वहाँ विभिन्न दृष्टिकोण और विचार सामने आएँगे। हालाँकि यह जरूरी नहीं है कि ये मिलकर किए जाने वाले किसी स्वस्थ कार्यसंचालन में बाधक बनें, पर अक्सर वे बाधक बनते हैं। संस्थागत गतिशीलता और उसके आगे बढ़ने की क्षमता भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों में तारतम्य स्थापित करने वाली प्रक्रियाओं की मजबूती पर निर्भर करती है।

किसी भी संस्था में सहभागी संस्कृति के विकास के लिए यह जरूरी है कि अलग–अलग दृष्टिकोणों का स्वागत किया जाए और उन्हें सामने रखा जाए। विरोधाभासी रूप से सही निर्णय लेने की क्षमता के लिए ऐसे व्यक्तियों की जरूरत होती है जो भिन्न दृष्टिकोणों को एक तरफ कर दें।

सोचना, विमर्श करना, प्रश्न उठाना किसी स्वस्थ संस्कृति के महत्वपूर्ण गुण होते हैं और एक तथ्य की भाँति सभी लोगों को सभी स्तरों पर इसका अनुभव होना चाहिए। सतर्कता न होने से बाधाएँ पैदा हो जाती हैं।

निर्णय

ऐसा कोई भी निर्णय या पद नहीं होता जिसके अपने कुछ फायदे व कुछ नुकसान न होते हों। जब भी कोई निर्णय किया जा रहा होता है, तब यह याद रखना बहुत जरूरी होता है कि हम कुछ नुकसानों को भी चुन रहे हैं।

सभी स्तरों पर, अन्तिम निर्णय करने से पहले यह पूछना बहुत मददगार साबित होता है कि क्या यह विचार सही है या कि क्या इस विचार का समय आ चुका है।

संकीर्णता या बस कुछ खास लोगों से वास्ता रखने का आचरण, खासतौर से निर्णयकर्ताओं के बीच, भले ही अल्पकालिक नतीजे दे दे, पर अन्ततोगत्वा उससे संस्थागत ढाँचे पर विपरीत असर पड़ता है। अक्सर ही संस्थाओं में कुछ बाधाएँ आती हैं – कुछ पर ध्यान दिया जाता है, बाकियों को छोड़ दिया जाता है। कुछ 'भीतर' रहती हैं, कुछ नहीं।

किसी समूह में प्रोत्साहन को पुरस्कारों और दण्डों के माध्यम से बनाए रखा जाता है। सभी को गम्भीरता से और ससम्मान ध्यानपूर्वक सुनना ही इसका एकमात्र सच्चा विकल्प है।

कुछ औपचारिक तथा व्यापक रूप से फैले हुए मानक व सिद्धान्त अपेक्षित संस्कृति को फैलाने में मदद करते हैं। थोड़ी शब्दाभिव्यक्ति तो अपरिहार्य होती है और संस्था के स्वास्थ्य को जोखिम में डालकर ही इसकी अनदेखी की जा सकती है। हालाँकि, शब्दाभिव्यक्ति का यह खतरा होता है कि जीवन्त प्रक्रियाओं के अभाव में शब्द घिसी–पिटी बातें बनकर रह जाते हैं। और घिसी–पिटी या मुर्दा बातें खोखली संस्थाएँ ही बनाते हैं।

बहुमत और विविधता के मानकों की बात करते हुए भी अधिकांश संस्थाएँ अपने मूल में बेहद कठोर और पदानुक्रम–आधारित होती हैं। यह संस्था की निर्णय–प्रक्रियाओं में सामने आता है।

बढ़ते हुए संगठनों के लिए समय–समय पर नए 'उपायों' को पहचानना या खोजना जरूरी हो सकता है। संस्थाएँ अक्सर खुद को इस प्रश्न पर उलझा हुआ पाती हैं कि 'क्या नए उपायों को अपनाना संस्थागत इतिहास से 'धोखा' करना है?'

अपने इतिहास को 'विभूषित' करने की पर्याप्त प्रक्रियाओं के अभाव में 'ढंग से' आगे बढ़ना कठिन है।

नेतृत्व

- निर्धारित स्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्वक, कुशलता से और परिपूर्णता से मार्गदर्शन करना,
- अगले कदम की तलाश करना और उसे अमल में लाना।

यदि किसी संस्था में नेतृत्व का विकास करने की फिक्र नहीं की जाती तो धीरे–धीरे उस संस्था का विकास अवरुद्ध हो जाता है और वह अपनी विशिष्टता खो देती है। बहुत सम्भावना रहती है कि वह उस वक्त की 'सबसे हावी' संस्कृति में धंस कर रह जाए। किसी भी संस्कृति या समूह के अन्दर मौजूद विशिष्टता को हमेशा ही प्रबल समूहों के हमलों का सामना करना पड़ता है। और किसी संस्था की सफलता की कुंजी उसे बनाए रखने, पुनरुद्धार करने और अगले लोगों के हाथों में सौंपने की प्रक्रियाओं में होती है। **नेतृत्व निर्माण दरअसल किसी मूल्यवान संस्कृति को बचाए व बनाए रखने का प्रयास है, न कि सिर्फ भविष्य में बने रहने की तिकड़म।**

आज के दौर जैसी परिस्थितियों में कुछ नए विचार लोकप्रिय हो चलते हैं, इस दौर में त्वरित बदलाव एक महती आवश्यकता है।

किसी संस्था में असहमति को कैसे पहचाना जाता है, यह महत्वपूर्ण है। असहमति को जगह देना महत्वपूर्ण है और इसे खारिज नहीं किया जा सकता। नई तकनीकें, खासतौर पर इन्टरनैट, दूसरे दृष्टिकोण के लिए होनी वाली पारम्परिक असहिष्णुता को तकरीबन नामुमकिन बना दे रही हैं। यदि असहमति की इजाजत नहीं दी जाए या विरोधी स्वरों को हतोत्साहित किया जाए, तो वह अन्य माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्त होगा, और इन्टरनैट दुनिया के किसी भी कोने में पहुँच सकता है। इस मामले में प्रत्येक संगठन और संस्था को कुछ संघर्षों का सामना करना पड़ता है। किसी संगठन की संस्कृति, उसकी मानवीयता, उसकी ताकत और उसका चरित्र, सबसे ज्यादा उसके दायरे में उभरने वाली असहमति को सम्बोधित करने के लिए उसके द्वारा दी जाने वाली जगह और प्रक्रियाओं से ही परिभाषित होते हैं। बेहद क्षुद्र मामलों को छोड़ दें तो सहमति आसानी से नहीं बनती। इस तथ्य को स्वीकार कर लेना तथा किस ढंग से सहकर्मी, मित्र, शिक्षक और विद्यार्थी इस स्थिति को सम्भालते हैं, यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। कृष्णमूर्ति की शिक्षाएँ स्पष्टतः दूसरे व्यक्ति को 'मना लेने', 'दबाव', या 'प्रभुत्व' के इस्तेमाल की पद्धतियों से भिन्न हैं। असहमति को दिए जाने वाले स्थान को उन्होंने 'सहयोग, पर सिर्फ किसी एक विचार के इर्द–गिर्द नहीं' के रूप में परिभाषित किया है जो वाकई में एक रूपान्तरकारी चुनौती है, न सिर्फ किसी व्यक्ति के लिए बल्कि संस्था के लिए भी।

1995 में मेरी एक नई युवा सहकर्मी, आशा, निर्णयकर्ताओं द्वारा लिए जा रहे एक खास निर्णय को लेकर बेहद चिन्तित हो उठी। तीन दौर की मुलाकातों के बाद, स्कूल के शिक्षकों ने यह निर्णय लिया था कि वह स्कूल के वरिष्ठतम विद्यार्थियों के साथ मुलाकातों के दौर करेगी। आशा ने यह कहते हुए अपनी असहमति दर्ज की, ''मुझे लगता है कि चीजें काफी ठीक चल रही हैं और इस तरह की मीटिंगों के दौर आयोजित करने की कोई जरूरत नहीं है।'' प्राचार्य न तो उसके दृष्टिकोण को दरकिनार किए बगैर आगे बढ़ सकते थे, जिसका कि मतलब यह भी होता कि ''तुम नई हो, युवा हो और इसलिए तुम्हारा दृष्टिकोण अनभिज्ञता से युक्त है'' और न ही यह कहकर आगे बढ़ सकते थे, ''यद्यपि हम तुम्हारी बात सुन तो सकते हैं पर हम तुम्हें गम्भीरतापूर्वक नहीं ले सकते।'' यह एक संस्थागत संकट था।

मैंने और मेरे साथियों ने बुनियादी बातों के बारे में खूब ध्यान से सोचा। हमने आशा से कहा, ''अपने दिल की बात कहने के लिए तुम धन्यवाद की पात्र हो। हमारे लिए यह बहुत मूल्यवान है क्योंकि इसका मतलब है कि यहाँ ऐसे लोगों के लिए भी जगह है जो अपनी मन की बात को सबके सामने रख सकते हैं। यह सुनना हमारे लिए कष्टप्रद हो सकता है पर यह तुम्हारी समस्या नहीं है। दूसरे, कृपया अपनी शंकाओं को हिफाजत से रखो, वे मूल्यवान हैं। कोई भी तुमसे अपना मन बदलने के लिए तुम्हें राजी करने की कोशिश नहीं करेगा। तीसरे, हमें आगे क्या करना चाहिए? हम तो वरिष्ठ छात्रों के साथ मुलाकातों की एक शृंखला आयोजित करने की चर्चाओं में लगे हुए थे। तुम्हें इस पर आपत्ति है और तुम मानती हो कि यह अच्छा विचार नहीं है। क्या हम ऐसी एक मीटिंग करके देखें और फिर इस निर्णय पर पुनर्विचार करें? और इस मीटिंग में यदि तुम्हारे द्वारा उठाई गई आशंकाएँ वाकई प्रकट होती दिखीं तो दूसरे भी तुम्हारी बात से सहमत हो जाएँगे।''

आशा राजी हो गई और हमने मिलकर यह निर्णय लिया। पहली मीटिंग के बाद वह बोली, ''मेरी सभी आशंकाएँ दूर हो गई हैं। चलिए हम इसे आगे बढ़ाते हैं।''

या साथियों के लिए एक–दूसरे से निम्नलिखित बातें कहना सम्भव है:

अ. मैं तुम्हें राजी करने की कोशिश नहीं करूँगा।

ब. चलो हम एक–दूसरे की बातें ध्यान से सुनें।

स. चर्चा करने और एक–दूसरे को सुनने के दौर में से हम मिलकर सबसे वाजिब निर्णय पर पहुँच सकते हैं।

आगे मैं यह भी पूछता हूँ, क्या शिक्षकों के लिए विद्यार्थियों से यह सब कह पाना सम्भव है?

हमारी एक वरिष्ठ साथी, कमला, से एक बार संस्थागत सर्वे के दौरान यह पूछा गया कि क्या उसे अपने दृष्टिकोण व विचारों को सामने रखने का मौका मिलता है और क्या उसके विचारों को महत्व मिलता है, या उन पर ध्यान दिया जाता है। उसने

जवाब दिया, ''मैंने हमेशा ही अपने दृष्टिकोण को सामने रखा है। जब कोई निर्णय लिया जाता है और वह मेरे दृष्टिकोण के खिलाफ है, तो भी मुझे यह लगता है कि हाँ इस निर्णय में मेरा भी योगदान रहा है।''

संगठनों के लिए यह बहुत जरूरी है कि वे कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर एक सहमति बना पाएँ। कृष्णमूर्ति इसका संकेत देते हैं: दृष्टिकोण महत्वपूर्ण नहीं होते, तथ्य होते हैं। निर्णय प्रभुता के बल पर नहीं किए जाते, बल्कि 'मिलकर सोचने' के द्वारा किए जाते हैं और जहाँ ऐसा सहयोग हो जो सिर्फ किसी एक विचार के इर्द–गिर्द न हो। यह पूछना दिलचस्प हो सकता है कि यदि क्या ऐसी अवस्था किसी स्कूल या संगठन के 'रोजमर्रा' के संचालन के हिसाब से तर्कसंगत है। 'रोजमर्रा' वाली उपमा के अन्दर यह मान्यता छिपी रहती है कि मामलों को शीघ्रता से निपटाना जरूरी होता है, जल्दी में, 'रुका नहीं जा सकता।' क्या वाकई ऐसा है?

निर्णय सभी स्तरों पर लिए जाते हैं। यदि कुछ ऐसा हो जो किसी पीछे किए गए किसी काम से मेल खाता हो तो हम उसे 'निर्णय' नहीं कहते। लेकिन वह भी निर्णय ही होता है – पहले की तरह ही 'चलते रहने' का निर्णय।

अधिकांश निर्णय निष्पक्षता और निरन्तरता की जरूरत के जरिए किए जाते हैं। वस्तुतः अधिकांश संस्थागत समस्याओं का सम्बन्ध बीते कल में किए गए कामों या निर्णयों को शब्दशः या तत्व रूप में दोहराते जाने से होता है। कल की गई चीज को उसी तरह से, मशीनी अन्दाज में कर देना। नई कार्यपद्धति की जरूरत पर ध्यान न देना।

अभिव्यक्ति के लिए एक निष्पक्ष और वास्तविक आमंत्रण के बाद ध्यानपूर्वक सुनना, मानवीय संवाद की एक बेहद महत्वपूर्ण, पर अकसर ही मुश्किल से नसीब होने वाली विशेषता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि संस्थाओं और संगठनों की साझी भूमि पर ये सवाल पूरी जीवन्तता से उठते हैं।

इमारत का अहाता बाकी सब चीजों को परिभाषित कर देता है। आर्केस्ट्रा को एक संचालक की जरूरत होती है और सेना को एक सेनापति की। उन समूहों में भी, जहाँ लोकतंत्र का पालन किया जाता है, यह बेहद मुश्किल प्रतीत होता है कि 'प्रबल' या 'सर्वाधिक हावी' प्रभावों से अलग लीक पर काम किया जाए। क्या स्कूल और आधुनिक संगठन जीवन्त विकल्पों का सृजन कर सकते हैं? क्या संगठनों, स्कूलों के भीतर कार्यकारी क्षेत्रों में सत्ता और प्रभुत्व के लिए प्रगट या गूढ़ रूप में होने वाले संघर्ष का स्थान बुद्धिमत्ता की एक ज्यादा गहरी गुणवत्ता ले सकती है?

जी. गौतम ने द स्कूल, केएफआई के प्राचार्य के रूप में कार्य किया (1991 – 2009) तथा महत्वपूर्ण शैक्षणिक, प्रशासनिक तथा संस्थागत परिवर्तनों का पथ प्रदर्शन किया। वे अब केएफआई के चेन्नई ऐजुकेशन सैन्टर के निदेशक के तौर पर द स्कूल (जो तमिलनाडू के राज्य स्कूलों में महत्वपूर्ण योगदान देने वाला एक आउटरीच प्रोग्राम है) तथा नवीन केएफआई रहवासी स्कूल पाठशाला के कर्ताधर्ता हैं। उनसे gautama2004@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

सम्पादक की टिप्पणीः

यह लेख मूल रूप से द जर्नल ऑफ कृष्णमूर्ति स्कूल्स के अंक 10 में छपा था। सम्पादक इस लेख को पुनः छापने हेतु अनुमति प्रदान करने के लिए केएफआई का धन्यवाद करते हैं।

10 स्कूलों में शैक्षणिक नेतृत्व के समर्थन में

अनुष्टुप नायक

"दुनिया में जो बदलाव देखना चाहते हो, पहले खुद में वह बदलाव लाओ।'

–महात्मा गाँधी

स्कूल–नेतृत्व आज शिक्षा के सबसे अधिक चर्चित मुद्दों में से एक है। शिक्षा नीति और उसकी प्रक्रियाओं को लेकर होने वाली कोई भी चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक स्कूली शिक्षा में उसके नायकों द्वारा निभाई जाने वाली, अच्छी चाहे बुरी, महत्वपूर्ण भूमिका का जिक्र न हो। मैंने सरकारी व निजी, दोनों क्षेत्रों के ऐसे नायकों के उदाहरणों पर लिखी गईं कई प्रभावशाली केस–स्टडी पढ़ी हैं, जिनमें कई सारी व्यवस्थागत बाधाओं को पार करते हुए अपने स्कूल को रूपान्तरित करने की कहानी है। चाहे वह अचला कुकरेती की कहानी हो, जिन्होंने अल्प संसाधन वाले नई दिल्ली नगर निगम स्कूलों की तस्वीर बदल दी, या आभा ऐडम्स की, जिन्होंने इसी शहर के अधिक सुविधा–सम्पन्न क्षेत्रों में प्रसिद्ध श्रीराम स्कूल की स्थापना की, या फिर पश्चिम बंगाल में मुर्शिदाबाद के 16 वर्षीय किशोर बाबर अली की बहुचर्चित टी.ई.डी. कहानी, जो कम उम्र में देश के सबसे युवा प्रधानाध्यापक बने – ये सभी बेहद प्रेरणादायी हैं। पर मुझे ऐसी घटिया नेतृत्व पद्धतियों के चौंका देने वाले किस्सों के बारे में भी पता चला है, जो हमारे स्कूलों को खतरे में डाल रही हैं। ये उजागर हुई हैं 2006–2007 के डी.आई.एस.ई. के आँकड़ों से। जो यह भी बताते हैं कि भारत के कुल प्राथमिक विद्यालयों में से आधे से भी अधिक में कोई नियमित प्रधानाध्यापक नहीं है। मीडिया में आई खबरों से हमें निजी तथा सरकारी, दोनों ही तरह के स्कूल–प्रमुखों द्वारा अपनी स्वायत्तता व अधिकारों का दुरुपयोग करने के बारे में भी पता चला है–ये भी ऐसी घटिया नेतृत्व पद्धतियों के ही उदाहरण हैं।

प्रेरक नायकों के व्यक्तिगत किस्से और केस स्टडी उपयोगी होते हैं, लेकिन यहाँ मैं एक और तस्वीर खींचना चाहूँगा। व्यवहार में प्रभावशाली स्कूली नेतृत्व कैसा हो सकता है? स्कूली शिक्षा के रोजमर्रा के सन्दर्भ में इसका इस्तेमाल कैसे हो सकता है? और इसे बड़े पैमाने पर बनाए रखने के लिए किस तरह की व्यवस्थागत मदद की जरूरत है? मेरी समझ मुख्यतः मेरे संगठन आईडिस्कवरी एजुकेशन द्वारा संचालित, जमीनी स्तर पर किए गए शोध पर आधारित है। यह करते हुए हमने देश भर के पाँच सौ से भी अधिक मुख्यधारा के स्वतन्त्र स्कूलों की गुणवत्ता में सुधार किया। हमने एकीकृत पाठ्यचर्या, प्रशिक्षण और आकलन को क्रियान्वित करने में सैकड़ों स्कूल–नायकों को प्रशिक्षित किया। स्कूली नेतृत्व के बारे में किया गया विश्वस्तरीय शोध भी इन्हीं तरीकों की ओर उन्मुख होने लगा है, हालाँकि यह शोध अधिकतर भारत के अलावा अन्य देशों के सन्दर्भ में किया गया है।

> *सर्वप्रथम मैं बल देना चाहता हूँ कि हमारे स्कूलों को शैक्षणिक नायकों की जरूरत है; ऐसे नायक जो विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए खुद को जवाबदेह मानते हैं और जो केवल प्रशासनिक प्रबन्धक होने की बजाय अध्ययन–अध्यापन प्रक्रिया के सुधार के लिए खुद सक्रिय होते हैं।*

सर्वप्रथम मैं बल देना चाहता हूँ कि हमारे स्कूलों को शैक्षणिक नायकों की जरूरत है; ऐसे नायक जो विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए खुद को जवाबदेह मानते हैं और जो केवल प्रशासनिक प्रबन्धक होने की बजाय अध्ययन–अध्यापन प्रक्रिया के सुधार के लिए खुद सक्रिय होते हैं।

हार्वर्ड के प्राध्यापक रिचर्ड एलमर लिखते हैं: "नेतृत्व का उद्देश्य शैक्षणिक प्रथाओं और प्रदर्शन में सुधार करना है..। इस परिभाषा में स्वयं को जान बूझकर रूमानियत से परे रखा गया है, वह केन्द्रित और साधनभूत है।" अमेरिका में ए.एस.सी.डी. द्वारा किए गए अध्ययन दिखाते हैं कि "बच्चों की शिक्षा पर सबसे अधिक प्रभाव कक्षा में होने वाली पढ़ाई के अलावा, स्कूल के नेतृत्व का ही पड़ता है। बेहतरीन प्रदर्शन करने वाले प्रधानाध्यापक विद्यार्थी के सीखने में 20 प्रतिशत अंकों का अन्तर ला सकते हैं।"

भारत में हमारा जमीनी अनुभव इन निष्कर्षों की पुष्टि करता है। हमारे साझेदार स्कूलों में सबसे महत्वपूर्ण सुधार वहाँ हुए जहाँ स्कूल के नेतृत्व ने शिक्षण तथा अध्यापन की ओर असाधारण ध्यान दिया। सम्भवतः सबसे ज्यादा शिक्षाप्रद तथ्य यह है कि इनमें से कई स्कूल–नायक किसी भी तौर पर करिश्माई व्यक्तित्व वाले या शिक्षा–विशेषज्ञ नहीं हैं। अजमेर से लेकर तिरुनेलवेली तक, तमाम छोटे कस्बों में स्थित उनके स्कूल भी शिक्षक–गुणवत्ता की सीमाओं, आधारभूत ढाँचों से जुड़ी मजबूरियों, पालकों की उदासीनता तथा प्रशासनिक समस्याओं से मुक्त नहीं हैं। लेकिन एक बात उन्हें दूसरों से अलग करती है – वे पढ़ाई का स्तर सुधारने पर अनवरत ध्यान देते हैं, भले ही छोटी–मोटी प्रशासनिक बातें छूट जाएँ। उन्होंने अपने कार्यालय से बाहर तथा कक्षा के भीतर समय व्यतीत किया; विद्यार्थी वाकई में क्या सीखे, इस पर ध्यान बनाए रखा; कक्षा के भीतर शिक्षकों के अध्यापन पर निगाह रखी, अपनी समीक्षा दी और शिक्षण में 'क्या' और 'कैसे' दर्शाने वाले छोटे–मोटे बदलाव भी करवाए।

मेरा दूसरा सुझाव है कि शैक्षणिक नेतृत्व की सैद्धान्तिक परिभाषा को रूपान्तरित करके एक ऐसी व्यावहारिक कार्ययोजना बनाई जाए जिसे स्कूल का नायक अपने स्कूल में लागू कर सके। हमारे द्वारा विकसित किया गया एक व्यवहार्य मॉडल इसके लिए एक उपयोगी रूपरेखा प्रदान कर सकता है। नेतृत्व की सबसे अधिक जरूरत तब होती है जब किसी परिवेश में हुए बदलाव से अनुकूलन सम्बन्धी चुनौतियाँ पैदा होती हैं। स्कूलों के लिए अनुकूलन सम्बन्धी चुनौती है कि अलग–अलग बच्चों के सीखने के अन्तरों की सीमाओं, शिक्षकों के स्तर में विविधताओं, और स्तरीय शैक्षणिक संसाधनों की कमी से जूझते हुए भी कैसे उस सब को प्रत्यक्ष तौर पर प्रदर्शित किया जाए जो प्रत्येक बच्चे ने कक्षा के अन्दर सीखा है। इस प्रश्न का कोई आसान उत्तर नहीं हो सकता। अतः स्कूल में अपनी भूमिका को लेकर स्कूल–नायक की पहली प्राथमिकता होगी स्तरीय शिक्षा और अध्यापन को अपना एकसूत्री कार्यक्रम बनाना और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वह अपना अधिक से अधिक समय, ऊर्जा और संसाधन लगा देगा। इसके फलस्वरूप, शायद प्रशासनिक गतिविधियों को संचालित करने और नौकरशाही तथा प्रबन्धन से निपटने जैसे कामों का महत्व गौण हो जाएगा।

पढ़ने–पढ़ाने को अपना प्राथमिक एजेण्डा बना लेने के बाद स्कूल–नायक को क्या–क्या कार्य करने होंगे? हम नेतृत्व की संकल्पना एक कृत्य या क्रिया के रूप में करते हैं। तो स्कूल–नायक की भूमिका इस ढंग से कार्य करने की होना चाहिए कि वह व्यक्तिगत उदाहरण (example) सामने रखे और बेहतर शिक्षा देने के प्रयास में संलग्न (engage)रहने के लिए अपनी टीम के साथ एक मजबूत भावनात्मक (emotional)रिश्ता कायम करे। हमने इसे '3E Model of Leadership' नाम दिया है। यह एक समेकित अवधारणात्मक ढाँचा है जो कई शोधकर्ताओं, उल्लेखनीय रूप से शिक्षाशास्त्री डेविड हॉकिन्स, नेतृत्व विशेषज्ञों रॉनल्ड हीफेट्ज और वारेन बेनिस, तथा संगठनात्मक शिक्षा के सिद्धान्तकार नोएल टिची के कार्यों पर आधारित है। शैक्षणिक व संगठनात्मक क्षेत्रों में 10,000 से भी अधिक नायकों के साथ किए गए नेतृत्व सम्बन्धी हमारे कार्य द्वारा इसकी प्रभावशीलता भी सिद्ध हुई है। यह सही है कि हम सबके भीतर नेतृत्व से जुड़ी प्रतिभा का स्तर अलग–अलग होगा, लेकिन हमने यह देखा है कि ये परिपाटियाँ सीखी जा सकती हैं।

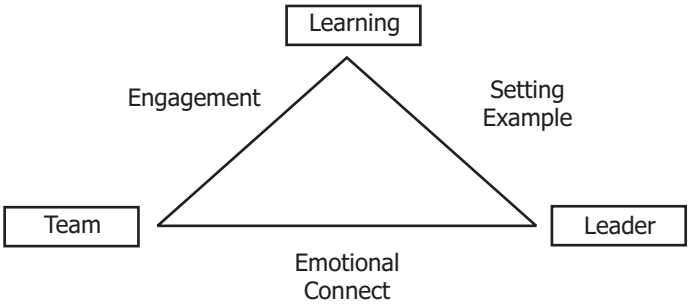

हम ऐसी तीन कार्यविधियाँ सुझा रहे हैं जिन्हें किसी भी स्कूल में इस्तेमाल किया जा सकता है।

- एक आदर्श शिक्षक और विद्यार्थी होने का व्यक्तिगत उदाहरण सामने रखना। इसे कक्षा के भीतर रहकर ही सबसे अच्छे ढंग से किया जा सकता है, शिक्षकों के साथ मिलकर पढ़ाने के द्वारा तथा विद्यार्थियों के साथ बैठकर पढ़ने के द्वारा। विद्यादेवी जिन्दल स्कूल की प्राचार्या श्रीमती गुनमीत बिन्द्रा, जिन्होंने हमारे साथ मिलकर अपनी 23 वर्ष पुरानी संस्था को रूपान्तरित किया, कहती हैं, "मैं अपने शिक्षकों के साथ बैठकर उनकी शिक्षण–योजनाएँ बनवाती थी। एक बार एक शिक्षिका अपने द्वारा उपयोग किए जाने वाले संसाधनों को लेकर मुश्किल महसूस कर रही थी। मैंने उससे कहा, 'चलो कक्षा में चलते हैं और आज के लिए मैं तुम्हारी सहायक बन जाती हूँ।' इसके बाद से हर सप्ताह मैं खुद दो पीरियड पढ़ाने लगी। इसका कक्षा के भीतर के अध्ययन–अध्यापन पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा है।" कक्षा के भीतर प्रभावी शिक्षण का प्रदर्शन करना, अवलोकन करना और शिक्षकों को अपनी प्रतिक्रिया देना, बच्चों के काम को देखना और सबसे जरूरी बात यह कि पढ़ाई के प्रति जिज्ञासु होना – यह हमारे स्कूल–नायकों की ओर से प्रस्तुत किया जाने वाला एक ऐसा उदाहरण हो सकता है जिसका अन्य लोग अनुकरण कर सकते हैं।
- अपने शिक्षक एवं विद्यार्थी समूह के साथ समानुभूति तथा सराहना के माध्यम से भावनात्मक सम्बन्ध विकसित करना। पढ़ना – और पढ़ाना – भावनात्मक रूप से चिन्तामुक्त लेकिन बौद्धिक रूप से चुनौतीपूर्ण परिवेश में ही सबसे अच्छे ढंग से हो पाता है। यह जरूरी है कि स्कूल–नायक अपनी टीम में विश्वास और सहयोग का वातावरण निर्मित करें। अध्ययन को बढ़ावा देने वाली स्कूली संस्कृतियों के निर्माण में हमने देखा है कि ऐसे नायक जिन्होंने विशेष सराहना करने, वार्तालापों में शामिल होने और बच्चों से प्रतिक्रियाएँ लेने जैसी गतिविधियों को संस्थागत चलन बना दिया, वे अपनी टीमों में भावनात्मक जुड़ाव निर्मित करने में बेहद सफल रहे हैं।
- शिक्षक समुदाय को उम्मीद व आशा का संचार करते हुए अध्ययन प्रक्रिया में संलग्न रखना। सीखना–सिखाना एक कठिन कार्य है। बच्चे बार–बार कोशिश करने, असफल होने और फिर से कोशिश करने से सीखते हैं। बिलकुल यही बात शिक्षकों पर भी लागू होती है। शिक्षण के लिए, खासतौर पर जब वह वाकई में बच्चों को सिखाने के लिए हो, न कि बस रटा देने के लिए, यह जरूरी है कि शिक्षक अपने बच्चों के साथ, विषयवस्तु पर और अपने खुद के सीखने–भूल जाने के संघर्षों पर, लगातार काम करते रहें; यह स्वभावतः बहुत मुश्किल कार्य है। स्कूल–नायकों द्वारा शिक्षकों को ऐसा सहायक वातावरण

दिया जाना जरूरी है जहाँ वे बने–बनाए मानकों या कायदों से हटकर दूसरे विकल्पों को आजमाने की छूट महसूस कर पाएँ और उन्हें प्रधानाध्यापक की तरफ से निरन्तर यह भरोसा मिलता रहे कि वे तब तक हार न मानें जब तक कि उन्हें बच्चों के भीतर साफ–साफ सुधार न दिखने लगे। इसके लिए यह भी जरूरी है कि शिक्षकों की भूमिका की पुनर्रचना होती रहे और वे अपने पेशेवर विकास के लिए खुद जिम्मेदारी लेना शुरू करें। उन्हें उनके लक्ष्यों की ओर बढ़ते हुए स्पष्ट दिखाई देने वाली प्रगति के लिए पुरस्कृत भी किया जाना चाहिए।

मेरा तीसरा और अन्तिम सुझाव है कक्षा की प्रक्रियाओं, स्कूल के संगठन तथा मुख्य विकास की प्रक्रिया में ढाँचागत बदलाव लाना ताकि शैक्षणिक नेतृत्व की परिपाटियाँ व्यक्तिगत 'सितारा पेशेवरों' तक सीमित न रहकर बृहद स्तर पर कारगर रूप में फैल सकें। हमने देखा है कि प्रभावशाली स्कूल–नेतृत्व स्कूल के सुधार के लिए एक आवश्यक शर्त है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। हमारे सबसे अच्छे स्कूलों में भी कक्षा के भीतर की शिक्षण प्रक्रिया कमजोर है, जो 'बताने और सुनने' के दो चरणों वाले प्रतिरूप तक ही सीमित रहती है। इसके अलावा ऐसे उपकरणों और ढाँचों की भी कमी है जो कक्षा के भीतर यात्रा के आखिरी चरण में शिक्षकों को मजबूत सहारा दे सकें। हमने देखा है कि अगर पाठ्यचर्या और आकलन–मूल्यांकन को सहारा देने वाली विस्तृत शिक्षण प्रक्रियाएँ और प्रायोगिक उपकरण हों, तो नेतृत्व की अच्छी परिपाटियाँ निरन्तर बनी रह सकती हैं, खासतौर पर अल्प संसाधन वाले स्कूलों में।

हमने यह भी देखा है कि जो स्कूल प्रशासनिक एवं शैक्षणिक जिम्मेदारियों का बँटवारा कर लेते हैं, वे दोनों ही मोर्चों पर बेहतर सिद्ध होते हैं। जिन स्कूलों के साथ हमने काम किया, उनमें से अधिकतर में हमने सफलतापूर्वक एक शैक्षणिक नायक काडर तैयार कर दिया। यह काडर वरिष्ठ शिक्षकों और शैक्षणिक रूपरेखा एवं सुधार में अग्रणी भूमिका निभाने वाले लोगों को ले कर बना है, जबकि प्राचार्य अपनी प्रशासनिक जिम्मेदारियों को निभाने में लगे रहते हैं।

अन्त में, हमें अहसास हुआ कि एक बार होने वाले प्रशिक्षण, खासतौर पर 'कार्यशाला' की तरह के प्रशिक्षण का प्रधानों व शिक्षकों को तैयार करने में सीमित प्रभाव ही पड़ता है। हमारे देश के लिए जरूरत है बेहतरीन उम्मीदवारों को चुनने वाली एक कड़ी चयन प्रक्रिया की; प्राचार्य बनने के अभिलाषियों के लिए प्रयोग–आधारित तैयारी करवाने वाले कॉलेज की; तथा नौकरी के दौरान प्रशिक्षिण प्रक्रिया की, जिससे स्कूली व्यवस्था के भीतर रहते हुए वे अपने कौशल विकसित कर सकें। हम सिंगापुर, अमेरिका और ऐसे कई अन्य देशों की ओर देख सकते हैं जो अपने स्कूल प्रधानों को तैयार करने के लिए इसी तरह के सुविचारित मार्ग अपना रहे हैं।

भारत में दस लाख स्कूल हैं और हमें दस लाख नायकों की जरूरत है। असल आवश्यकता यह है कि ये नायक कक्षा के भीतर अपना समय और ऊर्जा समर्पित करें, व्यक्तिगत उदाहरण के बल पर नेतृत्व प्रदान करें, एक भावनात्मक जुड़ाव निर्मित करें और सीखने–सिखाने के साथ एक गहरा नाता स्थापित करें। उनकी सफलता के लिए जरूरी है कि हम उन्हें भली–भाँति शोध किए गए शैक्षणिक उपकरणों से लैस करें, उन्हें प्रशासनिक कार्यभार से मुक्त रखें और निरन्तर सीखने–सिखाने से उनके कौशलों को माँजते रहें। यकीनन यह हमारे देश के लिए एक बड़ा भारी निवेश होगा पर यह निवेश करने लायक है क्योंकि इससे हमारे अध्ययन–अध्यापन के स्तर में जबरदस्त सुधार आएगा।

References:

1. Improving Government Schools What has been tried and what works - Mandira Kumar & Padma M. Sarangpani (Editors), 2005.
2. Proceedings of the iDiscoveri "School of Tomorrow" Conference Dec 07, 2010 New Delhi.
3. "iDiscoveri 3E Model of Leadership" Ashish Rajpal, Renu Rajpal and Anustup Nayak.
4. Building a New Structure For School Leadership - Richard F. Elmore, Professor, Graduate School of Education Harvard University and Senior Research Fellow, Consortium for Policy Research in Education, WINTER2000 THE ALBERT SHANKER INSTITUTE.
5. The Indian Public School System - Time for a Quality Revolution, ICICI Foundation for Inclusive Growth.

अनुष्टुप नायक आईडिस्कवरी एजुकेशन में एक भागीदार हैं, जो स्कूली शिक्षा के नवीनीकरण के लक्ष्य को लेकर चलने वाला एक अग्रणी सामाजिक उद्यम है। अनुष्टुप इसमें कॉरपोरेट कम्यूनिकेशन्स के प्रभारी हैं। वे अमेरिका में सफल कॉरपोरेट केरियर को छोड़कर शिक्षा एवं सामाजिक उद्यमिता के क्षेत्र में अपनी रुचि का काम करने के लिए भारत लौट आए। आईडिस्कवरी में अनुष्टुप ने उसकी सलाहकारी समर्थन और व्यावसायिक विकास, शिक्षक एवं नेतृत्व शिक्षा, शोध व परामर्श आदि से सम्बद्ध परिपाटियों के क्षेत्रों में तमाम भूमिकाएँ निभाई हैं। अनुष्टुप की रुचियाँ सामाजिक उद्यमिता, स्कूल सुधार और संगठनात्मक नेतृत्व के विकास जैसे क्षेत्रों में हैं। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से शिक्षा में, तथा जॉर्जिया टैक से सार्वजनिक नीति में स्नातकोत्तर डिग्रियाँ हासिल की हैं। उनसे anustup@idiscoveri.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

11 प्रधान–शिक्षक बनाम ''लघु–सी.आर.सी.''

आदित्य नटराज

एक अन्तःप्रेरित तथा कुशल प्रधान–शिक्षक अपने स्कूल के 'लघु–संकुल संसाधन समन्वयक' यानी "लघु–सी.आर.सी." की तरह काम कर सकता है। वह शिक्षक दल की रोचक ढंग से आयोजित बैठकों में अकादमिक चर्चाओं के द्वारा स्कूल के सभी सहकर्मियों के लिए सीखने का एक मजेदार और पेशेवर वातावरण निर्मित कर सकता है; विभिन्न कक्षाओं के पारस्परिक अवलोकन तथा शिक्षण शैली और पाठ–योजनाओं के बारे में शिक्षकों के अनुभव पर आपसी चर्चाओं (फीडबैक) के द्वारा उनकी क्षमताएँ विकसित कर सकता है; और स्कूल के विकास की समग्र योजना के अनुरूप शिक्षकों की व्यक्तित्व–विकास योजनाओं का प्रबन्धन कर सकता है। लेकिन इसके बजाय प्रधान–शिक्षक "उच्च अधिकारियों" को आँकड़े भेजने, कक्षाओं के लिए शिक्षकों को तैनात करने, मध्यान्ह भोजन और निर्माण कार्यों – और हाँ, सबसे महत्वपूर्ण समझे जाने वाले जनगणना, पोलियो तथा अन्य ग्रामीण सर्वेक्षणों आदि के लिए सिर्फ एक प्रशासक बनकर रह जाता है।

"लघु–सी.आर.सी." की यह भूमिका निभाने के लिए प्रधान–शिक्षक को दो चीजों की जरूरत होती है–स्वतःस्फूर्त अन्तःप्रेरणा और नेतृत्व के कौशल। वर्तमान व्यवस्था में स्कूल के सबसे वरिष्ठ शिक्षक को अन्तःप्रेरणा और नेतृत्व कौशलों की जाँच किए बगैर ही, अपने आप (और अक्सर उसकी अनिच्छा के बावजूद) प्रधान–शिक्षक की भूमिका के लिए "पदोन्नत" कर दिया जाता है। इसके बजाय यदि हम अन्तःप्रेरणा और उत्साह से भरे शिक्षकों को चुनते और सहकर्मियों के उत्साह और पेशेवर विकास को संचालित करने में उनकी मदद करने के लिए उन्हें एक व्यवस्थित नेतृत्व–प्रशिक्षण कार्यक्रम के बाद प्रधान–शिक्षक के रूप में पदोन्नत करते, तो शायद हमारे पास देश के हर स्कूल में मिलाकर अनायास लाखों "लघु–सी.आर.सी." हो जाते। कैवल्य एजुकेशन फाउण्डेशन, झुंझुनू (राजस्थान), अहमदाबाद और मुम्बई के सौ स्कूलों में वर्तमान प्रधान–शिक्षकों की नेतृत्व–क्षमता विकसित करने का एक तीन–वर्षीय अंशकालिक सेवारत प्रायोगिक कार्यक्रम चला रहा है, जिसमें प्रतिवर्ष सोलह दिन की कार्यशालाएँ और सेवा–स्थान पर ही सोलह दिन का प्रशिक्षण शामिल है।

करीब–करीब हर व्यक्ति में अन्तःप्रेरणा और नेतृत्व कौशल विकसित करना सम्भव है – खास तौर से तब जब हम इस मान्यता से प्रारम्भ करते हैं कि "हर मनुष्य मूल रूप से अच्छा होता है, अच्छा करना और आदर पाना चाहता है। सही वातावरण तथा सहयोग मिलने पर वह अपने कार्यप्रदर्शन के स्तर को अधिक से अधिक ऊपर उठाएगा।" इस मान्यता के बाद, क्या व्यवस्थित ढंग से सहायता देकर हर स्कूल में एक स्वप्रेरित प्रधान–शिक्षक निर्मित करना सम्भव है? इस सम्बन्ध में हमारा अनुभव बहुत सकारात्मक है और इसलिए इस प्रश्न का हमारा उत्तर पुरजोर "हाँ" में है।

अन्तःप्रेरणा विकसित की जा सकती है – अपनी भूमिका में "सार्थकता" तलाशने में मदद करके, अपने सहकर्मियों के प्रति "गर्व" का अहसास जगाकर, सतत "सीखने'' के द्वारा अपने व्यक्तित्व के विस्तार में आनन्द पाने से, और बच्चों के साथ दैनिक कार्य में "मजे" की खोज से। दुख की बात है कि विगत वर्षों में धीरे–धीरे इनमें से प्रत्येक का क्षय होता गया है। इसलिए हैरत की बात नहीं है कि प्रधान–शिक्षक कार्य करते हैं तो ऐसे, जैसे उनका काम उन्हें सौंपी गई "राष्ट्र–निर्माण" की सबसे रोमांचक गतिविधि न होकर एक नीरस, उबाऊ काम हो। हमारा कार्यक्रम व्यवस्थित तरीके से सार्थकता, गर्व और आनन्द की पुनर्रचना करने का प्रयास करता है।

अपनी भूमिका में फिर से "सार्थकता" खोजना

"यदि आपके समुदाय के लोग, सहकर्मी और पूर्व विद्यार्थी आपके 80वें जन्मदिन पर भाषण दें तो आप अपने बारे में उनसे क्या सुनना चाहेंगे?"

"आप अभी जिस तरह काम करते हैं और उनके साथ व्यवहार करते हैं, उसके आधार पर आपके बारे में उनके द्वारा क्या कहे जाने की सम्भावना है?"

"आपके बचपन का वह कौन–सा शिक्षक है जिसे आप याद करते हैं, और क्यों?"

"क्या आपके बच्चे आपको भी उतने ही प्रेमपूर्वक याद करेंगे?"

संसार के सबसे सार्थक व्यवसायों में से एक है अध्यापन। हर दिन आपको बच्चों का चरित्र ढालने का तथा स्वयं को और आसपास के संसार को जानने में उनकी मदद करने का अवसर मिलता है। यह एक साथ समाज–सुधारक, एक हितैषी बुजुर्ग, पथ–प्रदर्शक और स्वयं बच्चा होने का अवसर देता है। जब कोई पूर्व–विद्यार्थी "मैडम/सर, आपका धन्यवाद" कहने के लिए बीस वर्ष बाद वापस आता है तो उस आनन्द को शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। यह व्यवसाय केवल एक अच्छी जीविका कमाने के बारे में नहीं है, बल्कि उससे आगे जाकर मददगार और उपयोगी होने के बारे में है। अफसोस की बात है कि अधिकांश सरकारी शिक्षकों ने इस आनन्द का अनुभव नहीं किया है।

विभिन्न प्रकार के सत्र आयोजित करके हम यह सवाल उठाने में शिक्षकों की मदद करते हैं कि वे जो कर रहे हैं, वह क्यों कर रहे हैं।

चिन्तन–मनन करने, जीवन–मानचित्र बनाने, अनुभव साझा करने, और गहरी छानबीन के सत्रों के आयोजन से उन्हें अपनी भूमिका में सार्थकता देख पाने में मदद मिलती है। इस प्रकार वे एक निर्जीव प्रशासक के बजाय एक "सक्रिय" कर्मठ व्यक्ति बन पाते हैं।

राजस्थान के एक छोटे से ग्रामीण स्कूल के एक शिक्षक ने हमारे कार्यक्रम में एक वर्ष शामिल रहने के बाद जो कहा, उसे मैं उद्धृत करता हूँ , "इन बच्चों ने मुझे जीना सिखाया, जीवन क्या है वह सिखाया – बस हँसो, खेलो.... ।"

अपने सहकर्मियों के प्रति पुनः गर्व का अनुभव करना

खेलों में एक चमत्कारिक खूबी होती है – सहयोगी दल (टीम) निर्मित करने की खूबी। हम शिक्षकों और प्रधान–शिक्षकों के साथ "बेमिसाल फ्रिस्बी" का खेल खेलते हैं। इसके माध्यम से उनमें साथ–साथ, इकट्ठे मिलकर काम करने की क्षमता विकसित होती है ताकि वे एक टीम की तरह किसी लक्ष्य को प्राप्त करना सीखें। यह एक बहुत आसान खेल है जिसमें पाँच–पाँच खिलाड़ियों की दो टीमें एक फ्रिस्बी को विरोधी टीम की गोल रेखा के पार पहुँचाने का प्रयास करती हैं। हमने यह खेल इसलिए चुना क्योंकि इसमें एक–दूसरे को छूने की जरूरत नहीं होती है, इसलिए पुरुष और स्त्रियाँ साथ–साथ खेल सकते हैं। इसमें लगभग 50 रु. की एक फ्रिस्बी, यानी प्लास्टिक की लगभग 10 इंच व्यास की गोल तश्तरी चाहिए होती है, जिसे कलाई के झटके से फेंका जाता है। यह "स्वनिर्णीत" खेल है। इसमें उठने वाले विवादों को बिना किसी तीसरे पक्ष को बीच में लाए संवाद के द्वारा सुलझाना होता है।

यह देखकर हम हैरत में पड़ जाते हैं कि टीम के रूप में सफलतापूर्वक केवल एक संयुक्त प्रॉजेक्ट करना भी स्कूल में साथ काम करने वाले शिक्षकों के उत्साह और उत्प्रेरण के लिए क्या कुछ कर देता है। शुरुआत में वे यह मान रहे होते हैं कि वे यह नहीं कर पाएँगे, लेकिन धीरे–धीरे रोज सीखते चले जाते हैं, सुधार करते हैं, और अन्त में सफल हो जाते हैं, तो अचानक एक "टीम" के तौर पर उनकी आत्म–छवि बदल जाती है। अधिकांश स्कूलों में इस बात की बहुत सीमित समझ होती है कि व्यक्ति अपने सहकर्मियों से क्या सीख सकता है; शिक्षक अपनी कक्षाओं में अकेलापन महसूस करते हैं और कक्षाओं में अपनी असफलताओं को दूसरे शिक्षकों के साथ बाँटने में डरते हैं, कि कहीं इस कारण से उन्हें अयोग्य न समझ लिया जाए। खेल एक भयरहित वातावरण निर्मित कर देता है। यह उन्हें मौका देता है कि वे एक–दूसरे का आदर करना सीखें, ऐसा करने के अभ्यस्त हो पाएँ। खेल एक माहौल तैयार करता है जिसमें वे एक–दूसरे को सहयोग देना सीखते हैं, कौशलों को साझा करना सीखते हैं और टीम के रूप में कुछ हासिल कर पाते हैं ।

"मैं फ्रिस्बी सुश्री 'क' की ओर फेंकने को क्यों इच्छुक नहीं हूँ, जबकि मैं लगातार वह सुश्री 'ख' को फेंक रहा हूँ? क्या यह इसलिए है कि मुझे नहीं लगता कि वह अच्छा खेल सकती है, और मैं जीतने के लिए अधिक उत्सुक हूँ न कि अपनी टीम के सभी साथियों की भागीदारी के लिए? इससे सुश्री 'ख' को कैसा लगता होगा? क्या सुश्री 'ख' किसी भी काम में अच्छी नहीं है, या उसे कोई प्रमुख भूमिका दी जा सकती है? एक टीम के प्रमुख के तौर पर मेरी क्या भूमिका है? हम जीते तो नहीं लेकिन फिर भी, जब हर व्यक्ति ने भागीदारी की तो मुझे कैसा लगा?अपनी टीम के साथियों से मैंने क्या सीखा?"

एक प्रधान–शिक्षक ने स्वयं स्वीकार किया कि अपने शिक्षकों की प्रतिबद्धता के प्रति उनका विश्वास 10 वर्ष पहले ही खो चुका था और इसके फलस्वरूप उन्होंने उत्साह और लगाव से काम करना बन्द कर दिया था। लेकिन अब उनके साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अकस्मात एक नया औजार मिल गया था और वह सीखने के एक कहीं अधिक ऊर्जापूर्ण वातावरण को बनाए रख पा रहे थे।

सतत सीखने के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विस्तार करने के आनन्द को अनुभव करना

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा क्या है? उसे गढ़ते समय लेखकों के सामने क्या–क्या विकल्प थे? केन्द्रीय मुद्दों के इर्द–गिर्द होने वाली बहसें क्या थीं और वे किस तरह संविधान में प्रतिष्ठित मूल्यों से जुड़ती हैं? हम गणित क्यों पढ़ाते हैं?गणित के अध्यापन का दर्शन क्या है?

ऐसे रोचक सवालों के बारे में संवाद और बहसें करने पर प्रधान–शिक्षक अपने विचारों के क्षितिज को विस्तार दे पाते हैं, और इससे उन्हें नए जोश और बोध के साथ फिर से अपने काम में जुटने में मदद मिलती है। "चॉक एण्ड टॉक", यानी लिखना और बोलना, के तरीके को यांत्रिकता से उबाऊपन के साथ दोहराते जाने के

> *ऐसा नहीं है कि उन्हें सीखने में दिलचस्पी नहीं है, पर हम उन्हें सीखने के आनन्द का अनुभव करवा पाने में असमर्थ रहे हैं। यदि हम इन्सान के तौर पर उनका आदर करें, छोटी–मोटी पढ़ने की सामग्री के द्वारा उनकी चेतना को झकझोरें, प्रासंगिक विषयों पर सुगम संवाद आयोजित करें और उन्हें स्वयं की कार्यपद्धति पर विचार करने में उनकी मदद करें तो एक उत्साही सीखने वाले का जन्म सम्भव हो जाता है।*

> *पहले मैं सोचता था कि आदमी को नहीं बदला जा सकता है। अभी मुझे पता चला कि आदमी को बदलने के लिए भी बहुत सारी तकनीकें हैं और उनको इस्तेमाल करके किसी से भी काम करवाया जा सकता है।*
>
> *– एक सरकारी प्रधान–शिक्षक।*

बजाए नए प्रश्न उठते हैं। उनमें अहसास जागता है कि प्रतिदिन 'सीखने' और 'अनुभव करने', तथा सहकर्मियों एवं ज्यादा अनुभवी व्यक्तियों के साथ चर्चा करने के लिए और भी बहुत कुछ है। उन्हें यह बोध भी होता है कि उनके काम के आधार पर उनके पास भी सचमुच अपना एक दृष्टिकोण है और वे अपने को गर्वित, उत्साहित तथा कुछ और सीखने के लिए ऊर्जा से भरा हुआ महसूस करते हैं।

ऐसा नहीं है कि उन्हें सीखने में दिलचस्पी नहीं है, पर हम उन्हें सीखने के आनन्द का अनुभव करवा पाने में असमर्थ रहे हैं। यदि हम इन्सान के तौर पर उनका आदर करें, छोटी–मोटी पढ़ने की सामग्री के द्वारा उनकी चेतना को झकझोरें, प्रासंगिक विषयों पर सुगम संवाद आयोजित करें और उन्हें स्वयं की कार्यपद्धति पर विचार करने में उनकी मदद करें तो एक उत्साही सीखने वाले का जन्म सम्भव हो जाता है।

मैंने कभी कल्पना नहीं की थी कि मैं कार्यशाला के निर्धारित घण्टों के बाद, शाम को देर तक, सरकारी स्कूल–शिक्षकों के समूह के साथ बैठकर इस बात पर चर्चा करूँगा कि गतिविधि–आधारित कक्षाओं में बच्चों के समूह समानता के आधार पर, या मिले–जुले बनाए जाने चाहिए और हमारे चुने गए विकल्प के समाजशास्त्रीय निहितार्थ क्या होंगे!!! पर मैंने ऐसा किया। और मैं कह सकता हूँ कि उस चर्चा में उन्हें मुझसे भी ज्यादा आनन्द आया।

काम करते हुए आनन्द लेना

आखिरी बार आपने नृत्य कब किया था? वाकई में जोर से खुलकर इस तरह कब गाया था जैसे आपको कोई नहीं देख रहा हो?बच्चों के साथ हँसे थे? कुछ ऐसा चित्र बनाया था जिस पर खुद आपको भी विस्मय हुआ हो? कब यह व्यक्त करती हुई कविता लिखी थी कि आप सचमुच कैसा महसूस करते थे?

कला नई अनुभूतियाँ निर्मित करती है और स्वयं के एक नए, मृदु व्यक्तित्व से जोड़ती है। परन्तु स्वयं स्कूल से उत्तीर्ण होने के बाद, बिरले प्रधान–शिक्षकों ने ही इस माध्यम का उपयोग किया है। वे भूल चुके हैं कि उन्हें अपने को अभिव्यक्त करने का अधिकार है, कि सृजन करना और आत्म–अभिव्यक्ति स्वयं में आनन्ददायी है। इस कलात्मक अभिरुचि को फिर से जगाना आन्तरिक हिंसा को कम करने में, भीतर दबी हुई गहरी भावनाओं से नाता जोड़ने में सहायक होता है और एक उपभोक्ता के बजाय एक सृजनकर्ता की तरह अपनी एक नई छवि गढ़ने में भी सहायक होता है।

एक प्रधान–शिक्षक ने, जिसे सब पितृसत्तात्मक, तानाशाह प्रवृत्ति वाले आत्मकेन्द्रित व्यक्ति की तरह देखते थे, प्रेम के बारे में एक कविता सबको सुनाई। उसके अन्त में स्वयं उनकी आँखें भर आई थीं और उनके आसपास बैठे सभी लोग यह देखकर स्तब्ध थे कि वे वास्तव में क्या महसूस करते थे। ये अनुभूतियाँ शिक्षकसंघ के एक नेता वाले उनके रूप से बहुत भिन्न थीं। अब वे कहीं अधिक सहृदय और आनन्दप्रेमी व्यक्ति हैं और उनके सहकर्मी बिलकुल ही भिन्न कारणों से उनका आदर करते हैं।

नेतृत्व कौशल निर्मित करना

"शैक्षणिक नेतृत्व" एक प्रधान शिक्षक के प्रमुख कार्यों में से एक है – अर्थात अपने शिक्षकों का मार्गदर्शन और विकास करने की योग्यता होना। इसके लिए जरूरी है कि वह एक संवेदनशील श्रोता हो, अपने शिक्षकदल से सम्बन्ध बनाए, अपनी समस्याएँ व्यक्त करने में उनकी मदद करे और कार्ययोजनाओं की रूपरेखा बनाने में उन्हें सहयोग दे। फिर सर्वश्रेष्ठ कार्ययोजना चुनने में, उसे आजमाने में, और यह विचार करने में उनकी मदद करे कि उपलब्धि क्या रही। यदि वाँछित उपलब्धि हासिल नहीं हुई तो फिर से इस प्रक्रिया को दोहराने में उनकी सहायता करे। कहने में यह सब जितना भी सरल प्रतीत हो, वास्तव में यह अत्यन्त कठिन कार्य है। अधिकांश शिक्षक दूसरों की परेशानियाँ महसूस करने, उनसे जुड़ने, उनकी बात सुनने और समस्याएँ सुलझाने के बजाय आमतौर पर प्रचलित ऐसी "उपदेशात्मक" सलाहें देने का ढर्रा अपना लेते हैं जिन पर न तो अमल किया जा सकता है और जो न ही दी हुई परिस्थितियों में प्रासंगिक होती हैं।

प्रधान–शिक्षकों को यह सिखाया जा सकता है कि वे अपने शिक्षकदल को किस तरह मदद दें और प्रशिक्षित करें। इसके लिए यह जरूरी नहीं कि हर विषय और हर टॉपिक के बारे में उनका ज्ञान प्रशिक्षित किए जा रहे व्यक्ति के ज्ञान से अधिक हो। जरूरत होगी सुनने और मार्गदर्शन करने (कोचिंग) के कौशल सीखने की। लेकिन क्योंकि उन्होंने स्वयं कभी कोचिंग के माहौल का अनुभव नहीं किया होता, इसलिए इस सन्दर्भ में उन्हें और बहुत कुछ की जरूरत होगी। आवश्यकता होगी इस भूमिका में मदद करने वालों द्वारा रोल मॉडलिंग की, आत्म–मूल्यांकन करने वाली प्रश्नावलियों

और अभ्यास–प्रश्नों की, पठन सामग्री की और सहयोगियों तथा अनुभवी प्रशिक्षकों द्वारा फीडबैक प्रक्रियाओं की।

"पहले मैं सोचता था कि आदमी को नहीं बदला जा सकता है। अभी मुझे पता चला कि आदमी को बदलने के लिए भी बहुत सारी तकनीकें हैं और उनको इस्तेमाल करके किसी से भी काम करवाया जा सकता है" – एक सरकारी प्रधान–शिक्षक। अपने प्रधान–शिक्षकों को ये बुनियादी औजार प्रदान न करके हम उनका बहुत अहित कर रहे हैं।

निष्कर्ष

शोध ने बार–बार यह साबित किया है कि एक अन्तःप्रेरित प्रधान–शिक्षक अपने स्कूल के कामकाज को नाटकीय रूप से सुधार सकता है। हममें से सभी ऐसे लोग जो भारत के निजी स्कूलों में पढ़े, किसी न किसी ऐसे फादर 'बॉस्को' को जानते हैं जो अपने समर्पण, करुणा और ऊर्जा के कारण स्कूल के हर बच्चे को जानता था। बच्चे अपनी सम्भावनाओं को हासिल कर सकें इसके लिए अथक परिश्रम करता था और अपने पूरे शिक्षकदल के लिए एक रवैया तय कर देता था। अब प्रश्न यह है कि हम एक धर्मनिरपेक्ष, पेशेवर विकास प्रक्रिया के द्वारा ऐसे प्रधान शिक्षकों का व्यवस्थित रूप से सृजन कर सकते हैं या नहीं।

क्या हम अपने सभी प्रधान–शिक्षकों को अन्तःप्रेरित "लघु–सी.आर.सी." में विकसित करने के लिए नेतृत्व–प्रशिक्षण कार्यक्रम चला सकते हैं? आमिर खान अभिनीत उस पात्र का सम्मान करते हुए भी जो थ्री–ईडियट्स् फिल्म में बच्चों के लिए एक जीवन्त स्कूल चलाता है, सवाल तो यह है कि क्या हम ऐसे 7,00,000 ईडियट्स् – यानी भारत के हर सरकारी स्कूल में एक – पैदा कर सकते हैं?

आदित्य नटराज सामाजिक परिवर्तन के लिए नेतृत्व–विकास करने पर केन्द्रित कैवल्य एजुकेशन फाउण्डेशन (के.ई.एफ.) के संस्थापक निदेशक हैं। के.ई.एफ. दो कार्यक्रम संचालित करता है "स्कूल लीडरशिप प्रोग्राम" जो सरकारी स्कूलों के प्रधानाचार्यों को अपने असफल होते हुए स्कूलों को सुधारने के लिए प्रशिक्षित करता है, और "गाँधी फैलोशिप", जो जमीनी सामाजिक परिवर्तन के लिए युवा लोगों को प्रशिक्षण देता है। आदित्य ने आठ वर्ष व्यावसायिक क्षेत्र में और आठ वर्ष बुनियादी जमीनी शिक्षा–विकास के क्षेत्र में कार्य किया है। वे अर्थशास्त्र में एम.ए. और आई.एन.एस.ई.ए.डी. से एम.बी.ए. हैं।

12 निजी, छोटे एवं प्रयोगधर्मी स्कूल नेतृत्व की चार चुनौतियाँ

प्रिया अय्यर

भारत में स्कूल–शिक्षा रूपान्तरण की प्रक्रिया में है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे स्पष्ट तौर पर दिखाई देने वाली समस्याओं से जूझने के विभिन्न प्रयास हो रहे हैं। ये प्रयास नए दृष्टिकोण अपनाकर किए जा रहे हैं। जैसे, शिक्षकों को न केवल अध्यापन में बल्कि प्रशासनिक निर्णय लेने में सशक्त बनाकर, विद्यार्थियों को स्वनिर्देशित और विचारोत्तेजक गतिविधियों में भाग लेने के अवसर प्रदान करके, स्कूल और समाज के बीच सम्बन्ध स्थापित करके।

कुछ निजी संगठनों ने आगे बढ़कर इस रूपान्तरण का मार्ग प्रशस्त किया है। यहाँ वाराणसी के *निर्माण* नामक संगठन का विशेष उदाहरण प्रस्तुत है। इस संगठन के विचार शैक्षणिक पद्धति में शोध द्वारा वर्तमान वास्तविकताओं के विश्लेषण से निकले हैं।

ऐसे छोटे, निजी, प्रयोगधर्मी स्कूलों में स्कूल नेतृत्व का भारतीय सन्दर्भ में क्या अर्थ है? ऐसे स्कूलों की वास्तविकता और चुनौतियाँ क्या हैं? यह लेख स्कूल के चार पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करके चर्चा का प्रयास करता है। ये पहलु हैं: इसके पालक, शिक्षक, समाज और बदलते हुए सन्दर्भ। मैं सोचती हूँ कि सफल शैक्षणिक पद्धति दो ध्रुवों के बीच लचीली और कल्पनाशील गति से बनती है: इस बारे में श्रेष्ठ दर्शनों में बताए गए आदर्श कि बच्चों को किस तरह सीखना चाहिए; तथा शिक्षकों की सीमाओं, पालकों की प्रतिक्रिया और राज्य द्वारा निर्धारित आवश्यकताओं का यथार्थ।

स्कूल और उसके पालक

मैं अपनी बात उत्तर प्रदेश के एक गाँव में स्थित एक प्रयोगधर्मी स्कूल की माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों से प्रारम्भ करती हूँ। ये विद्यार्थी पर्यावरणीय चुनौतियों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हुए अपने ही गाँव के मुद्दों पर विचार कर रहे थे। वे चर्चा कर रहे थे कि, 'उनके किसान माता–पिता रसायनों के उपयोग से होने वाले नुकसानों के बारे में अनजान थे। धरती को जोतते समय उन्हें पॉलीथीन थैलियाँ मिलती थीं। कुछ गाँव वालों द्वारा गंगा किनारे की रेत अवैध रूप से बेची जा रही थी जिसके कारण भू–क्षरण और भू–स्खलन का खतरा पैदा हो गया था।' ये आवाज उन बच्चों की थीं जो इन स्थितियों के बीच रहते आए थे और जिन्हें इस बात की चिन्ता थी कि गाँव वालों को इन बातों का बोध होना चाहिए।

समाधानों की चर्चा करते हुए उन्हें सूझा कि दीवारों पर चित्र बनाकर इन समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाए, सीधे–सीधे अपने पास–पड़ोस में यह सन्देश फैलाया जाए।

अगले दिन उत्साहित बच्चे काम पर निकल पड़े। जल्दी ही आसपास के लोगों का ध्यान इस ओर गया। उनमें से कुछ खुद भी ब्रश चलाने के लिए आगे आए और कुछ अन्य इस बात से खुश थे कि चित्र बनाने के लिए उनके घरों की दीवारें चुनी गई थीं। यह गतिविधि लगभग एक सप्ताह चली।

एक खिली धूप वाली खुशनुमा दोपहर को स्त्रियों के एक समूह (विद्यार्थियों की माताओं) ने आकर कहा, "तो कोई पढ़ाई नहीं चल रही है। इन तस्वीरों से क्या लाभ होगा? क्या सारा दिन चित्र बनाने, खेलने और मस्ती करने से उनको बुद्धि आ जाएगी?''

पालकों को चिन्ता थी कि उनके बच्चों को नियमित स्कूल जाना चाहिए और 'बौद्धिक कार्य' में व्यस्त रहना चाहिए। वे स्कूल के शैक्षणिक दर्शन से अपना ताल–मेल नहीं बैठा पा रहे थे।

ऐसी घटनाओं से सीख लेकर, स्कूल ने पालकों को स्कूल आने, बच्चों को विभिन्न कार्य करते हुए देखने और शिक्षकों से बेझिझक बात करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्कूल ने अलग–अलग विषयों, जैसे 'कल्पना', पर मेले भी आयोजित किए। स्कूल की शिक्षा पद्धतियों से सम्बद्ध विचारों के बारे में जानकारी देने के मकसद से कलाओं, दस्तकारी कौशलों, नाटकों, संगीत आदि जैसे विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल इस तरह किया गया कि सब पालक उन्हें समझ सकें और उनसे सम्बन्ध बना सकें।

पालकों का इस तरह चिन्ता करना हमें स्कूलों में लिए जाने वाले शैक्षणिक निर्णयों के पहलुओं का पुनरावलोकन करने की ओर ले जाता है। वह हमें इस ओर ले जाता है कि हम प्रत्येक पालक की आवाज, उसकी जरूरतों एवं अभिलाषाओं पर विचार करें। उन्हें इस बारे में आश्वस्त करें कि स्कूली शिक्षा उनके बच्चों को बड़ा हो जाने पर इस रूप में समर्थ और सक्षम बनाएगी कि वे विभिन्न प्रकार के कामों के प्रति एक–सी अभिरुचि और रवैया रख पाएँगे।

क्या पढ़ाना और कितना पढ़ाना, यह अकसर बहस का बड़ा मुद्दा रहा है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा ने इस मुद्दे को दिशा दी है। कुछ राज्यों और केन्द्र की पाठ्यपुस्तकों ने भी पाठ्यचर्या के दायरे को निश्चित किया है। निर्माण ने दिखाया है कि वे शैक्षणिक कार्यक्रम, जो बच्चों के सीखने को उनके आसपास की दुनिया से जोड़ते हैं, जीवन और काम की निरन्तरता को बनाए रखने में प्रभावशाली होते हैं – और इस तरह वे सीखने को अर्थपूर्ण बनाते हैं।

लेकिन अधिकांश पालकों को विद्यार्थियों का रोजमर्रा की प्रक्रियाओं के साथ सक्रिय सम्बन्ध बना पाना नहीं भाता। उन्हें औपचारिक शिक्षण का वातावरण एकमात्र वाँछनीय विकल्प प्रतीत होता है।

इससे स्कूल के लिए पद्धतियों और दृष्टिकोणों के मामले में एक चुनौती खड़ी होती है। यह जरूर है कि पालकों का स्कूलों के साथ जुड़ाव (और उससे अपेक्षाओं) का स्तर विभिन्न सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमियों के साथ बदलता रहता है। लेकिन मोटे तौर पर, आज उपलब्धि के बढ़े–चढ़े मानकों और पाठ्यचर्या के बढ़े हुए बोझ ने पालकों को अपने बच्चों के भविष्य के बारे में आशंकित कर दिया है।

जहाँ एक ओर मध्यमवर्गीय माता–पिता निस्सन्देह ऐसे स्कूल चुनते हैं जिनमें बच्चों के लिए अनुकूल, प्रीतिकर वातावरण हो, वहीं दूसरी ओर कड़ी अनुशासनात्मक शैक्षणिक संस्कृति में भी उनकी आस्था बरकरार है। वे प्रारम्भ में अपने बच्चों के लिए स्कूलों के अभिनव, उदीयमान मॉडल चुनते हैं, लेकिन बाद के वर्षों में अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में पढ़ाना जारी रखने का 'जोखिम' नहीं उठाना चाहते।

ग्रामीण और शहरी, दोनों पृष्ठभूमियों के पालक–समुदायों की शिक्षा के लिए माँग हमें अहसास दिलाती है कि वे बस एक ऐसी औपचारिक व्यवस्था चाहते हैं जिसमें बच्चों द्वारा किए जा रहे काम का लिखित दस्तावेजीकरण हो। यह भावना शायद उपयोगिता और उसके अन्तर्निहित मूल्य में उनकी आस्था से उपजती है, जिसका सम्बन्ध वे पारम्परिक अनुशासनात्मक स्कूली शिक्षा से जोड़ते हैं, क्योंकि वे स्वयं शिक्षा के उसी एकमात्र प्रतिरूप से परिचित होते हैं।

हालाँकि नए, प्रयोगधर्मी स्कूलों का भी एक परिपूर्ण शैक्षणिक कार्यक्रम अवश्य होता है। लेकिन उनके नेतृत्व का कार्य केवल बच्चों तक सीमित नहीं होता, बल्कि उसे आगे बढ़कर उनके पालकों के लिए भी एक समानान्तर कार्यक्रम प्रारम्भ करना पड़ता है। उसकी चुनौतियों का दायरा सीखने–सिखाने की नई निकलती धाराओं से पालकों को परिचित कराने से लेकर उनके साथ आहार, स्वास्थ्य और लिंगभेद जैसे मुद्दों पर चर्चा करने तक फैला रहता है। उसमें पालकों के साथ स्कूल की विशेष गतिविधियों की योजना बनाने, और उन्हें अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा में सक्रिय भूमिका निभाने का अधिकार देने जैसे काम भी शामिल रहते हैं।

हालाँकि नए, प्रयोगधर्मी स्कूलों का भी एक परिपूर्ण शैक्षणिक कार्यक्रम अवश्य होता है। लेकिन उनके नेतृत्व का कार्य केवल बच्चों तक सीमित नहीं होता, बल्कि उसे आगे बढ़कर उनके पालकों के लिए भी एक समानान्तर कार्यक्रम प्रारम्भ करना पड़ता है। उसकी चुनौतियों का दायरा सीखने–सिखाने की नई निकलती धाराओं से पालकों को परिचित कराने से लेकर उनके साथ आहार, स्वास्थ्य और लिंगभेद जैसे मुद्दों पर चर्चा करने तक फैला रहता है।

स्कूल और उसके शिक्षक

अब मैं एक साक्षात्कार कक्ष में घटी एक विशेष घटना का उदाहरण लेकर शिक्षकों के मुद्दे पर आती हूँ। एक उम्मीदवार शिक्षिका ने यह कहकर अपना परिचय दिया, "मैं बी.एड. हूँ। मैंने 'महिला शिक्षक' के पद के लिए आवेदन दिया है। मैं छोटी कक्षाओं में सभी विषय पढ़ा सकती हूँ। कक्षा 5 तक गणित और विज्ञान पढ़ा सकती हूँ। मैं अँग्रेजी, 'सामाजिक', और हिन्दी पढ़ा सकती हूँ। मैंने कक्षा 5 तक संस्कृत की है, यदि इसके लिए पद रिक्त हो तो मैं यह भी पढ़ा सकती हूँ। मैं 'कम्प्यूटर' नहीं जानती, लेकिन मुझे सामान्य ज्ञान और नैतिक विज्ञान (मॉरल साइंस) पढ़ाने का अनुभव है।"

एक स्तर पर ऐसे उत्तर से कोई भी स्कूल–प्रमुख खुश हो सकता है। लगता है कि उसे एक बहुमुखी प्रतिभा वाला प्रशिक्षित पेशेवर व्यक्ति मिल रहा है। लेकिन बाद में हुआ संवाद इस वर्णित सूची और सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में उसके वास्तविक उपयोग के बीच की एक बड़ी खाई दर्शाता है। यह स्थिति काम के विकल्प के तौर पर अध्यापन के 'चुनाव' को निर्धारित करने वाले सामाजिक लोकाचार और रवैये को प्रतिबिम्बित करती है। यह उम्मीदवार के चयन में स्कूलों की सीमाओं को दर्शाता है। साथ ही सतत सेवाकालीन कार्यक्रम करवाए जाने की आवश्यकता और जिम्मेदारी को भी रेखांकित करता है।

क्या स्कूल सेवाकाल के दौरान प्रशिक्षण देते हैं? यह वह सवाल है जो मुझसे बार–बार पूछा जाता रहा है।

स्कूल पर सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की कड़ियाँ जोड़ने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। इस जरूरत को महसूस करते हुए *निर्माण* अपने सेवारत शिक्षकों के लिए कार्यक्रम चलाता है। इनमें विचार करना सीखना, विभिन्न प्रकार के अनुभवों के लिए अवसर निर्मित करना, बच्चों के साहित्य व पाठ्यचर्या–सामग्री को समझना तथा महत्वपूर्ण रूप से सामाजिक मुद्दों पर दृष्टिकोण निर्मित करना शामिल हैं।

ऐसे स्कूलों में नेतृत्व नवनियुक्त शिक्षकों के प्रति एक सहृदय रवैया अपनाता है। यह शिक्षकों के मजबूत पहलुओं को आधार बनाकर उनकी योग्यता को बढ़ाने में विश्वास रखता है; यह विश्वास भी, कि सीखने–सिखाने में देशज, स्थानीय किस्मों के उनके ज्ञान का उपयोग हो। यह पाठ्यचर्या को सांस्थानिक स्वरूप से मुक्त करके शिक्षकों को उसे इस तरह निर्मित करने का अवसर देता है कि वह बच्चों के अनुभवों से मेल खाए।

इसमें शक नहीं कि यह दृष्टिकोण लम्बी अवधि में शिक्षकों को सशक्त बनाएगा, पर स्कूलों के सामने एक बड़ी चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि बच्चों के लिए शिक्षकों के रूपान्तरण की इस यात्रा के कोई दूरगामी नैतिक परिणाम न हों। बच्चों को ऐसे सक्षम वयस्कों की जरूरत होती है जो उनकी तात्कालिक

> *एक अन्य आशा की किरण स्वायत्तता का पहलू है। ये स्कूल समुदाय और संचालकों के बीच एक अनोखे प्रकार की साझेदारी सम्भव बनाते हैं जिसमें उनके बीच की दीवारें पारदर्शी होती हैं। चीजों की कल्पना करना और उन्हें लागू करते हुए साकार करना इन स्कूलों में एक साझा प्रयास होता है और इसलिए इनके नेतृत्व की प्रकृति बहुलतावादी होती है।*

आवश्यकताओं को पूरा करने में उनके साथ काम कर सकें। उन्हें ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता होती है जो विभिन्न तरीकों से उनकी योग्यता को निखारें, न कि ऐसे शिक्षकों की जो उनके साथ स्वयं भी हर विषय की बुनियादी बातें सीख रहे हों।

इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि शिक्षक की पारम्परिक छवि को मजबूत किया जा रहा है, जिसके तहत उसे सीखने वाला कभी नहीं माना जाता, बल्कि सर्वज्ञानी माना जाता है। इसके बजाय इस घिसी–पिटी छवि के बदले ऐसे शिक्षक बनाने की असली चुनौती पर काम करने की जरूरत पर जोर दिया जा रहा है जिन्हें अच्छा बुनियादी ज्ञान तो हो, पर जो सदा नया सीखने के लिए खुला दिमाग रखते हों। लेकिन, मददगार पेशेवर वातावरण में भी शिक्षकों को अपने स्वयं के ज्ञान और रवैये को छोड़ना मुश्किल लगता है। इसलिए उनमें ऐसे कार्यक्षेत्र ढूँढ़ने की प्रवृत्ति रहती है जिनमें सोचने और स्वयं पर काम करने की जरूरत न हो।

इन सारी परिस्थितियों के बावजूद इस प्रकार के स्कूल पालकों और शिक्षकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से कतराते नहीं हैं। इसके विपरीत, वे दूसरे आयामों के लिए उनकी प्रतिबद्धता में कुछ जोड़ते ही हैं।

स्कूल और उसका बृहद समाज

खेल–दिवस के एक कार्यक्रम के बाद मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि के एक पालक ने टिप्पणी की कि "गरीब परिवारों के बच्चों ने दौड़ों में असाधारण प्रदर्शन किया। यूनिफॉर्म में भी आप उनको पहचान सकते हैं...। पुरस्कार प्राप्त करते समय उनके चेहरों पर छाई मुस्कानों को देखें!" उन्होंने आगे कहा, "पर क्या आपको नहीं लगता कि अब स्कूल में गरीब बच्चे अधिक हो गए हैं?"

एक अन्य पालक ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा, "पहले मेरे बच्चे को 'पागल' शब्द का पता तक नहीं था, पर अब वह वो सब गालियाँ इस्तेमाल कर रहा है जो उसने बस में सीखी हैं। मेरे विचार से बस में एक शिक्षक यह सुनिश्चित करने के लिए होना चाहिए कि नादान बच्चों पर दूसरों का असर न पड़े।"

ऐसी स्थितियों के कारण *निर्माण* ने 'पास–पड़ोस सभाएँ' प्रारम्भ कीं जिनमें विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमियों के लोगों ने अपनी चिन्ताएँ व्यक्त कीं और ऐसे मसलों से निपटने के लिए अपनी जिम्मेदारियों पर विचार किया। इससे लोगों को व्यक्तिगत जान–पहचान करने और सामाजिक नाते जोड़ने में भी मदद मिली।

हमारे संवैधानिक जनादेश का पालन करते हुए स्कूलों को सभी बच्चों को समान अवसर प्रदान करना चाहिए, चाहे उनकी सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि कैसी भी हो। पर आज के भारत में, जो अभी भी एक पारम्परिक और आधुनिक पहचान के बीच संघर्ष कर रहा है, 'शुल्क देने वाले' और 'निःशुल्क पढ़ने वाले' विद्यार्थियों का एकीकरण करने में अनेक चुनौतियाँ हैं।

पालकों और कुछ हद तक शिक्षकों के लिए ऐसे स्कूल को स्वीकार करना आसान नहीं होता जिसके दरवाजे वंचितों के लिए खुले हों। ऐसी परिस्थिति और विचार–प्रक्रिया को बदलने में कानून अकेले कभी भी सफल नहीं हुए हैं। हालाँकि स्कूलों को गुणवत्ता सुधारने के लिए अपनी प्रतिबद्धता पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है। वे सामाजिकता को संज्ञानात्मक से और भावनात्मक को शारीरिक से अलग करके देखने की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए, प्रश्न हमारे बच्चों के विकास का और हमारे समाज के भविष्य का है, चाहे रास्ते में कैसी भी चुनौतियाँ आएँ।

वास्तव में, यह मानवता से जुड़ाव का व्यापक प्रश्न है।

स्कूल और उसका बदलता सन्दर्भ

अब मैं उस मुद्दे पर आती हूँ जिससे स्कूल का सामना व्यवस्था के स्तर पर होता है।

शिक्षा नीति के हालिया परिवर्तनों में भारत के शैक्षणिक क्षेत्र को विदेशी पूँजी निवेश के लिए खोलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके पीछे का विचार यह है कि निजी संस्थाएँ गुणवत्ता लाने के लिए आत्मनियमन की विधियों–प्रक्रियाओं से लैस होकर स्वयं को सशक्त करें और साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की जिम्मेदारी को भी बाँटें। कुछ लोगों ने इस कदम का स्वागत किया है लेकिन इस मुद्दे पर अभी भी बहस चल रही है। हमारी अधिक चिन्ता उन स्कूलों के बारे में है जो बड़ा बदलाव लाना चाहते हैं।

किसी कल्पना को साकार करने के लक्ष्य से काम करने वाले स्कूलों के लिए पूँजी–निवेश और आर्थिक आधार बेहद महत्वपूर्ण रहते हैं। हमारी श्रेष्ठ युवा प्रतिभाएँ चुनौतीपूर्ण और रचनात्मक नौकरियों में टिकी नहीं रह पातीं। अपर्याप्त वित्तीय साधन इसके रास्ते में एक बड़ी बाधा हैं। ये स्कूल अकसर उदीयमान पेशेवर युवाओं के लिए क्षमता–निर्माण का प्रारम्भिक मंच तो बन जाते हैं, लेकिन अपना 'प्रशिक्षण काल' पूरा हो जाने पर वे इस मंच को छोड़कर कोई अधिक आकर्षक विकल्प चुन लेते हैं।

उच्च शिक्षा में उदारवादी नीति की ही तरह स्कूलों के लिए बस एक उदारवादी कदम भी अगर सरकार उठा ले तो इस प्रकार के स्कूलों की सहायता के लिए बहुत कुछ कर सकती है। स्पष्ट रूप में, यदि उन्हें 'बोर्ड से सम्बद्धता' प्रदान कर दी जाए तो पालक अपने बच्चों और शिक्षक अपनी नौकरियों के सुरक्षित भविष्य की कल्पना कर पाएँगे। सबसे बढ़कर, स्कूलों को बल मिलेगा कि वे और भी अधिक जोश से अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ें। हो सकता है कि इसके बावजूद शिक्षक अवसर मिलने पर अधिक लाभकारी नौकरियों में चले जाएँ, लेकिन फिर भी इससे ऐसे बहुत से लोग, जो गम्भीरता से अपना जीवन शिक्षा को समर्पित करना चाहते हैं, इन स्कूलों में बने रहेंगे।

आज शिक्षा व्यावसायिक सम्भावनाओं से परिपूर्ण है और राष्ट्रीय बोर्ड से सम्बद्धता अधिकांश स्कूलों को छात्रों की बड़ी संख्या के दाखिले के साथ फलने–फूलने का अवसर प्रदान करवाती है। पर विडम्बना यह है कि एक सशक्त दर्शन और दूरदर्शी स्वप्न लेकर काम करने वाले स्कूलों को यह सम्बद्धता आसानी से नहीं मिलती। कठोर दफ्तरी कायदे–कानूनों के कारण ऐसे स्कूलों को बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ता है। मान्यता–प्राप्त हैसियत न होने से, वे बड़े पैमाने पर अपना किफायती विस्तार नहीं कर पाते और उन्हें सिर्फ 'उत्कृष्टता के द्वीप' मान लिया जाता है।

एक उठने वाला प्रश्न यह है – क्या ऐसे सृजनात्मक प्रयासों को वाकई में बड़े स्तर पर किया जा सकता है? क्या छोटे प्रयास को भी उसी तरह उचित सराहना और सहयोग मिल सकता है जैसे बड़े को मिलता है?

निष्कर्ष

सब समस्याओं के बावजूद, वह क्या है जो ऐसे संगठनों को चलाए रखता है? शायद हर चुनौती के साथ ही लोगों, संसाधनों, राज्य की नीतियों और युगों से हमारे समाज के सामने खड़े मुद्दों से पार पाने की तीव्र इच्छा और सफलता की उम्मीदें भी आती हैं।

बच्चे ऐसे स्कूलों को जबरदस्त आत्मविश्वास देते हैं। सीखने की हर प्रक्रिया में उनकी भागीदारी और उनके आनन्द से समाज के प्रति उस प्रतिबद्धता की झलक मिलती है जो उनमें वयस्क होने पर होगी।

ताकत उन शिक्षकों से भी मिलती है जो सीखने के एक स्थान को स्कूल की व्यवस्था और समुदाय के साथ साझा करने में आनन्द अनुभव करते हैं; जो कुशल पेशेवर व्यक्तियों की तरह न केवल स्वयं का विकास करने बल्कि व्यापक समुदाय के भी निरन्तर विकास का मार्ग प्रशस्त करने की आवश्यकता महसूस करते हैं।

एक अन्य आशा की किरण स्वायत्तता का पहलू है। ये स्कूल समुदाय और संचालकों के बीच एक अनोखे प्रकार की साझेदारी सम्भव बनाते हैं जिसमें उनके बीच की दीवारें पारदर्शी होती हैं। चीजों की कल्पना करना और उन्हें लागू करते हुए साकार करना इन स्कूलों में एक साझा प्रयास होता है और इसलिए इनके नेतृत्व की प्रकृति बहुलतावादी होती है। यह साझा विश्वास और समझ वर्तमान आवश्यकताओं के बोध और मुद्दों का समाधान करने की इच्छा से विकसित होते हैं।

इस प्रकार के स्कूलों में नेतृत्व एक दूरदर्शी कल्पना से निकलता है। यह उन लोगों को 'विस्मित' नहीं करता जो तरह–तरह से इसके साथ जुड़ाव बनाते रहते हैं। यह स्कूल में और उसके आसपास होने वाली हर छोटी से छोटी बात में प्रतिबिम्बित होता है। उदाहरण के लिए, सुबह के अखबार में शहर में सम्भावित बन्द की खबर पढ़कर एक बस–चालक द्वारा पालकों के एक केन्द्रीय समूह को टेलीफोन करने की पहल करना और त्वरित निर्णयों पर कार्यवाही करना। यह पर्यावरण प्रदूषण या अन्तर्धार्मिक आस्था या समझ जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर स्कूल के साथ सहयोग करने वाले नागरिक समाज के समूहों की कोशिशों में भी प्रतिबिम्बित होता है।

कोई भी दूरदर्शी सपना एक स्वाभाविक मार्ग का अनुसरण करते हुए साकार होता है। वह जबरन थोपा नहीं जाता, बल्कि वह उसमें शामिल लोगों, उनके व्यक्तिगत प्रयासों, आत्मदिशा बोध और अन्तःप्रेरणा का अभिन्न अंग होता है। स्वायत्तता ऐसे स्कूलों को स्थापित शैक्षणिक ढाँचों की नकल न करने का विकल्प देती है। उन्हें एक अनूठी संरचना विकसित करने का अवसर मिलता है, जिससे परिस्थिति विशेष की माँगों के साथ तालमेल बैठाया जा सकता है। यह संरचना सतत आत्मनिरीक्षण द्वारा हमारे संविधान में कल्पित लक्ष्यों को भी अपने घेरे में लेती है।

जहाँ एक ऐसा आधारभूत आन्तरिक बल, सहयोगात्मक प्रयास और परिवर्तन के प्रति निरन्तर उन्मुखता होगी, वहाँ रूपान्तरण और परिवर्तन होगा। और वहाँ होगी...शिक्षा।

प्रिया अय्यर बंगलौर में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन स्कूल टीम की सदस्य हैं। इसके पहले वे 17 वर्षों तक शिक्षिका रहीं हैं। उन्होंने वाराणसी स्थित एक गैर–लाभकारी संस्था 'निर्माण' में काम किया जहाँ वे उसके प्रयोगधर्मी स्कूल 'विद्याश्रम' की प्रमुख थीं। स्कूल चलाने के अलावा, प्रिया को बच्चों को पढ़ाने, कलात्मक प्रोजेक्टस रचने और सामुदायिक कार्यक्रमों में भाग लेने में बहुत आनन्द आता है। उनसे priya@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

13 भारतीय शिक्षा व्यवस्था में स्कूल–नायक के रूप में प्रधानाध्यापक

जगन्नाथ राव

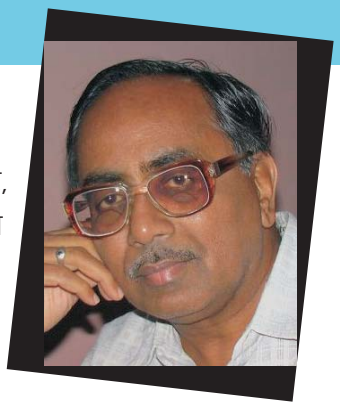

अपनी तमाम भूमिकाओं में कर्नाटक भर के प्राथमिक स्कूलों की यात्राओं के दौरान मैं स्कूली बच्चों से एक रस्मी सवाल पूछा करता था, 'बड़े होने पर तुम क्या बनना चाहोगे?' बच्चे अलग–अलग जवाब देते, 'डॉक्टर, इंजीनियर, पायलट' आदि। पर जब भी बच्चे कहते कि वे शिक्षक बनना चाहते हैं, तो मुझे सुखद आश्चर्य होता था। इससे मुझे उस स्कूल के बारे में कुछ बातें समझ में आ जाती थीं। जैसे–

- विद्यार्थी अपने शिक्षकों से काफी प्रभावित हैं।
- उनके स्कूल में शिक्षकों की एक समर्पित टीम है।
- प्रधानाध्यापक द्वारा अच्छा नेतृत्व प्रदान किया जा रहा है।
- यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि शिक्षक और प्रधानाध्यापक बच्चों के लिए ऐसे 'आदर्श व्यक्ति' साबित हुए थे जिनका वे अनुकरण करना चाहते थे।

प्रधानाध्यापक स्कूल को प्रभावी नेतृत्व दे सके और वह शिक्षकों को अपने द्वारा निर्धारित मानकों के मुताबिक प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित कर सके, इसके लिए उसकी ओर से कम से कम एक हद तक समर्पण की आवश्यकता होती है। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम ही होते थे।

स्कूल द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के स्तर का सम्बन्ध स्कूल में प्रभावी नेतृत्व प्रदान करने की प्रधानाध्यापक की भूमिका से भी होता है। वस्तुतः अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा उत्तर–पूर्वी कर्नाटक के लर्निंग गारण्टी प्रोग्राम के तहत स्कूलों में करवाए गए सर्वे से पता चला कि स्कूल में प्रधानाध्यापक की मौजूदगी या गैर मौजूदगी से स्कूल में पढ़ाई के स्तर पर बहुत फर्क पड़ता है।

गुजरे वर्षों में सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के लिए राज्यों द्वारा किए गए प्रयासों के चलते आज सरकारी स्कूलों में दाखिला ले रहे बच्चों में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों, शहरी झोपड़पट्टियों और प्रवासी समूहों की पढ़ने वाली पहली पीढ़ी है। यानी उन समूहों के बच्चे जिनके पास इससे पहले शिक्षा की सुलभता नहीं थी, आज सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे हैं। क्या हमारे स्कूल, शिक्षक और प्रधानाध्यापकों की तैयारी ऐसी है कि वे इन बच्चों को प्रभावी ढंग से सम्भालते हुए उन्हें स्तरीय शिक्षा दे सकें?

इस सन्दर्भ में, आइए स्कूल को प्रभावी नेतृत्व प्रदान करने में प्रधानाध्यापक की भूमिका और उन सीमाओं की चर्चा करें जिनके भीतर रहकर उसे इसे निभाना पड़ता है।

ऐसे कई क्षेत्र हैं जहाँ प्रधानाध्यापक वास्तव में प्रभाव डाल सकते हैं।

प्रधानाध्यापक द्वारा स्कूल के अन्दर, कई क्षेत्रों में एक प्रभावी नेतृत्व देने की भूमिका निभाई जा सकती है।

1. प्रशासनः स्कूल के शिक्षकों की सहायता से संस्थानिक योजना, वार्षिक शैक्षणिक योजना और स्कूल की समय–सारणी तैयार करना। और फिर इन्हें व्यवहारिक रूप में लागू करना।

2. शैक्षणिक निरीक्षण और शिक्षकों को प्रोत्साहन देनाः स्कूल के सभी शिक्षकों के शैक्षणिक कार्यों के लिए आन्तरिक शैक्षणिक निरीक्षक के रूप में कार्य करना। उसे स्कूल के सभी शिक्षकों द्वारा तैयार किए जाने वाले 'शिक्षण कार्य के वार्षिक कार्यक्रम' तथा 'साप्ताहिक पाठ योजनाओं' का निरीक्षण करना पड़ता है। शिक्षकों द्वारा कक्षा में किए जाने वाले शिक्षण–कार्य का भी प्रभावी ढंग से निरीक्षण करना होता है और उन्हें आवश्यक पेशेवर तथा संसाधन–सम्बन्धी सहयोग देना पड़ता है। प्रधानाध्यापक का एक और महत्वपूर्ण कार्य परीक्षाओं के संचालन तथा समय से विद्यार्थियों के नतीजों की घोषणा किए जाने का ध्यान रखना होता है। इससे बच्चों के उपलब्धि स्तरों पर नजर रखने में तथा पढ़ाई में कमजोर बच्चों की मदद करने के लिए प्रभावी सुधारात्मक उपायों को ढूँढ़ने में मदद मिलती है।

3. अनुशासनः नेतृत्व की एक प्रभावी भूमिका अदा करने के प्रयास में यह जरूरी है कि प्रधानाध्यापक स्कूल में अनुशासन लागू करे। उसे स्कूल की विभिन्न जिम्मेदारियों को निभाने में खुद भी पाबन्द होना चाहिए। अपनी प्रशासनिक भूमिका में उसे विद्यार्थियों और शिक्षकों, दोनों की उपस्थितियों पर नियमित तौर पर नजर रखना होती है।

4. स्कूल की मौजूदा सुविधाओं का प्रभावी ढंग से प्रबन्धनः मौजूदा आधारभूत सुविधाओं का प्रभावी उपयोग, कर्मचारियों और शिक्षकों का प्रभावी प्रबन्धन। अन्य उपलब्ध संसाधनों – प्रयोगशाला, पुस्तकालय, सहायक शिक्षण सामग्री, शिक्षकों की निर्देशिकाओं, खेलों से सम्बन्धित सामग्री इत्यादि का प्रबन्धन।

5. स्थानीय समुदाय के साथ निकट सम्पर्क बनानाः प्रधानाध्यापक को 'स्कूल प्रबन्धन समिति' की बैठकों के माध्यम से लोगों से मिलना और बातचीत करता होता है। स्कूल के विकास के लिए सामूहिक संसाधनों का भी प्रभावी ढंग से इस्तेमाल करना होता है।

6. स्कूल द्वारा आयोजित अतिरिक्त गतिविधियों की निगरानी रखनाः खेलों, सांस्कृतिक गतिविधियों, स्कूली प्रदर्शनियों का आयोजन करना, राष्ट्रीय व अन्य महत्वपूर्ण दिवसों को मनाना, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व के स्थानों के वार्षिक दौरे और यात्राएँ आयोजित करना, विभिन्न स्तरों पर आयोजित होने वाली तरह–तरह की प्रतिस्पर्धाओं में स्कूली विद्यार्थियों की भागीदारी तय करवाना इत्यादि। इन सभी गतिविधियों में प्रधानाध्यापक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

'नेतृत्वदायी भूमिका' अपनाने के लिए प्रभावित करने वाले कारक

स्कूल के अन्दर प्रभावशाली नेतृत्वकारी भूमिका निभाने की प्रधानाध्यापक की क्षमता कई कारकों पर निर्भर करती है – उसकी उम्र, लिंग, योग्यता, अनुभव; व्यावसायिक प्रशिक्षण; स्कूल में अन्य शिक्षकों की तुलना में वरिष्ठता; स्कूल का आकार, प्रत्येक कक्षा का आकार, तथा बहुश्रेणीय (मल्टी–ग्रेड) वर्ग में आने वाली कक्षाओं की संख्या; मध्यान्ह भोजन कार्यक्रमों जैसी विभिन्न शिक्षा प्रोत्साहन योजनाओं का प्रभावी ढंग से प्रबन्धन करने की क्षमता; और स्कूल के भीतर अपने साथियों से, तथा पर्यवेक्षण कर्मचारियों, जैसे सी.आर.सी., बी.आर.सी. तथा ब्लॉक स्तर के अन्य व्यक्तियों से उसे मिलने वाला सहयोग। इसके अलावा उसकी नेतृत्वकारी भूमिका स्कूल के भीतर उसे सुलभ अन्य भौतिक, मानवीय और शैक्षणिक संसाधनों द्वारा भी निर्धारित होती है।

सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक की सीमाएँ

प्रधानाध्यापक की नेतृत्वकारी भूमिका की चर्चा करते हुए, हमें सरकारी और निजी स्कूलों के प्रधानाध्यापकों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिकाओं के बीच मौजूद महत्वपूर्ण अन्तरों और सीमाओं पर भी ध्यान देना होगा। किसी निजी स्कूल के संचालन में सामुदायिक और सरकारी दखलंदाजी तकरीबन नहीं ही होती। यह मानकर भी चला जाता है कि शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में अनुशासन तो होगा ही।

पर सरकारी स्कूल में ऐसा नहीं होता। वहाँ प्रधानाध्यापक को अपनी तमाम कुशलताओं का इस्तेमाल करते हुए सामुदायिक नेताओं और पंचायती राज संस्थाओं के साथ सावधानीपूर्वक चलना होता है। विद्यार्थी तथा शिक्षक दोनों ही में अनुशासन बनाए रखने की समस्या तो हमेशा ही रहती है। साथ ही, सी.आर.पी. से लेकर ब्लॉक स्तरीय शिक्षा अधिकारी तक सभी सरकारी पर्यवेक्षण कर्मचारियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाकर रखने का महत्वपूर्ण मुद्दा भी है।

इसके अलावा, एक सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक को कई ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जो निजी स्कूलों में नहीं आतीं –

1. स्कूल नहीं आ रहे बच्चों को स्कूल में लाने के लिए सार्थक प्रयास करना।
2. विभिन्न कारणों से स्कूल छोड़ चुके बच्चों की निरन्तर तलाश में रहना तथा ऐसे बच्चों के माता–पिता के साथ लगातार सम्पर्क बनाए रखना ताकि स्कूल छोड़ने के रवैये का प्रचलन घटाया जा सके।
3. प्रेरणा और प्रोत्साहन के लिए योजनाओं को प्रभावी ढंग से लागू करना और इस्तेमाल में लाना ताकि पालकों और निरीक्षणकर्ताओं की ओर से इस सम्बन्ध में कोई शिकायत न हो।
4. बहुश्रेणीय (मल्टी–ग्रेड) परिस्थितियों में, जो कि आज अधिकांश सरकारी स्कूलों में व्याप्त हैं, प्रधानाध्यापकों को शैक्षणिक तौर पर नई कार्यनीतियाँ ईजाद करने या उन्हें इस्तेमाल करने की गुंजाइश या स्वतन्त्रता नहीं मिलती।
5. बच्चों के बीच में लैंगिक समता हासिल कर पाना, जो विशेष तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों तथा शहरी झुग्गियों में एक चुनौती है।
6. नियमपूर्वक प्रतिदिन मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम की देख–रेख करना।
7. अलग–अलग योग्यता, प्रशिक्षण, अनुभव, पृष्ठभूमियों वाले तथा विषयवस्तु और अध्यापन के बारे में अलग–अलग स्तर के ज्ञान वाले शिक्षकों के साथ कार्य करने की क्षमता।
8. समता के मुद्दे से जुड़ी विभिन्न समस्याओं से निपटना और ऐसा सन्तुलन बना कर चलना कि वह अपने साथियों या स्थानीय लोगों के बीच अलग–थलग न पड़ जाए।

इसके अलावा कई और ऐसे कारक हैं जो किसी सरकारी स्कूल में प्रभावी नेतृत्वकारी भूमिका अदा करने में प्रधानाध्यापकों की सीमाएँ तय करते हैं।

क. व्यवस्थागत कारकः

1. सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा गुणवत्ता सम्बन्धी चिन्ताओं पर ध्यान दिए बगैर प्राथमिक शिक्षा सुविधाओं का विशाल पैमाने पर विस्तार किया जाना।
2. अक्षम स्थानान्तरण नीति जो बस शिक्षकों की जरूरतों को ध्यान में रखती है, पर स्कूलों की जरूरतों को नहीं।
3. लम्बे समय तक स्कूलों में पदों का रिक्त रहना।
4. अधिकारियों द्वारा रिक्त पदों को अनुचित रूप से भर देना।
5. प्रेरण–प्रोत्साहन के लिए विभिन्न सामग्रियों के वितरण को लेकर प्रधानाध्यापकों पर बहुत ज्यादा बोझ लादा जाना।

6. शिक्षकों की तथा उच्च शिक्षा में कम अंक हासिल करके शिक्षकों के पदों के लिए आवेदन करने वाले लोगों की बहुत बड़े पैमाने पर भरती।
7. स्कूल में खराब स्तर की तथा अपर्याप्त आधारभूत सुविधाएँ।
8. स्कूल के भीतर शैक्षणिक संसाधनों का पर्याप्त मात्रा में न होना।
9. प्रेरणा–प्रोत्साहन से सम्बद्ध सामग्रियों को प्राप्त करने, आँकड़ों के एकत्रीकरण, मीटिंगों इत्यादि के लिए अक्सर प्रधानाध्यापकों को ब्लॉक कार्यालयों में बुलाया जाना।
10. उच्च छात्र–शिक्षक अनुपात (पी.टी.आर.) यानी कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या अधिक होना।
11. कई राज्यों में मध्यान्ह भोजन योजना लागू होने से प्रधानाध्यापकों पर पेशेवर कार्य का बोझ बहुत बढ़ गया है।
12. कई अशैक्षणिक तथा विभाग से अतिरिक्त गतिविधियों – मतदाता सूचियों का परिशोधन, जनगणना, सभी प्रकार के चुनाव – में प्रधानाध्यापकों का इस्तेमाल किया जाना, जिसमें बहुत सा अकादमिक समय देना पड़ता है और फलस्वरूप शिक्षकों को मजबूर होकर स्कूली कार्यों को नजर अन्दाज करना पड़ता है।

ख. पेशेवर / शैक्षणिक कारक

1. प्रधानाध्यापकों का अपने कर्तव्यों के निर्वाह में गैर–पेशेवर होना।
2. प्रधानाध्यापकों को स्कूल–नेतृत्व के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण न मिलना।
3. निरीक्षण टीम की ओर से अपर्याप्त एवं कमजोर शैक्षणिक सहयोग।
4. पाठ्यपुस्तकों तथा अध्ययन–अध्यापन सामग्री (टी.एल.एम.) की कमजोर गुणवत्ता।
5. अपर्याप्त शिक्षक संसाधन सामग्री।
6. प्राथमिक चरण पर कमजोर बच्चों को रोककर रखने की नीति न होना, जिसके कारण बच्चों में सीखने के प्रति उत्साह की कमी रहती है।
7. प्रेरित एवं उत्साही शिक्षकों की कमी।
8. बहुश्रेणीय (मल्टी–ग्रेड) अध्यापन एक प्रमुख कारक है, खासतौर पर अधिकांश निम्न–प्राथमिक सरकारी स्कूलों में – प्रधानाध्यापक एवं अन्य शिक्षकों, सभी को अनुशासन बनाए रखने के लिए परिश्रम करना पड़ता है जिसके चलते अन्य शैक्षणिक गतिविधियाँ प्रभावित होती हैं।
9. शिक्षकों की अनुपस्थिति स्कूलों के प्रभावी प्रदर्शन के रास्ते में एक बड़ी बाधा है।
10. स्कूल का आकारः स्पष्ट है कि स्कूल छोटा होगा तो उसके कई लाभ होंगे।
11. कक्षा का आकारः एक ज्यादा बड़ी कक्षा का अर्थ होगा कि प्रत्येक विद्यार्थी पर अलग से ध्यान दिए जाने के लिए कम समय मिलेगा।

ग. सामाजिक कारक

1. स्कूल के कामकाज के प्रति स्थानीय लोगों का उदासीन रवैया।
2. स्कूल में आवश्यक सुविधाएँ मुहैया करवाने में समुदाय की असमर्थता।
3. स्थानीय नेताओं द्वारा अपने बच्चों को निजी स्कूलों में पढ़ने भेजना और इस कारण से सरकारी स्कूल के कामकाज के प्रति उदासीन रुख अपनाना।
4. स्थानीय नेताओं द्वारा स्कूल के कामकाज में जरूरत से ज्यादा दखलंदाजी।
5. स्थानीय स्तर की राजनीति जो आमतौर पर स्कूल के प्रभावी प्रदर्शन में बाधा डालती है।
6. स्कूल प्रबन्धन समितियों का कामकाजी तौर पर नदारद होना।

वर्तमान परिदृश्य में, ऐसे कुछ और भी कारक हैं जो किसी प्रधानाध्यापक के लिए नेतृत्वकारी भूमिका को प्रभावी ढंग से निभाने में अड़चनें पैदा करते हैं :

1. कई राज्यों में प्राइमरी स्कूलों के प्रधानाध्यापकों का कोई पृथक काडर नहीं है। स्कूल के वरिष्ठतम शिक्षक को ही प्रधानाध्यापक मनोनीत कर दिया जाता है। यही बात लगभग सभी राज्यों के छोटे स्कूलों लगभग सभी निम्न प्राइमरी स्कूलों पर भी लागू होती है, जहाँ वरिष्ठतम शिक्षक को ही प्रधानाध्यापक नियुक्त कर दिया जाता है।
2. किसी कारणवश जब किसी वरिष्ठ शिक्षक द्वारा प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य करने से इन्कार कर दिया जाता है तो ऐसे में लगभग हमेशा ही यह दायित्व किसी कनिष्ठ शिक्षक पर आ जाता है। ऐसे में वह सामने आने वाली तमाम बाध्यताओं के चलते दायित्व को प्रभावी ढंग से नहीं निभा पाता।
3. कुछ राज्यों में, जहाँ प्रधानाध्यापक का पद मौजूद है, वहाँ भी नियमित शिक्षकों के एवज में प्रधानाध्यापक का अनुपात इतना कम है, कि उनमें से कुछ ही वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति पाते हैं। और वह भी अपने सेवाकाल के अन्तिम चरण में पहुँचकर, जब उनकी सेवानिवृत्ति में केवल कुछ वर्ष या कुछ

माह ही बचे होते हैं। ऐसे में, वे स्कूल के सुधार आदि के चक्कर में न पड़कर शान्ति से सेवानिवृत्त होना पसन्द करते हैं।

अन्त में, मुझे लगता है कि यह विभागीय निरीक्षण कर्मचारियों की जिम्मेदारी है कि वे प्रधानाध्यापकों के भीतर आत्मविश्वास पैदा करें, उन्हें प्रोत्साहित करें और उन्हें प्रशिक्षित करें ताकि वे स्कूल में अपनी नेतृत्व की भूमिका को प्रभावी ढंग से अंजाम दे सकें।

60 और 70 के विशिष्ट दशकों में स्कूली शिक्षा की अनिवार्यता जैसी कोई बात नहीं थी। उस दौर की ओर मुड़कर देखता हूँ तो मेरी समझ से तब प्राथमिक स्तर पर समर्पित प्रधानाध्यापकों की संख्या 70 प्रतिशत से अधिक रही होगी। पेशेवर प्रशिक्षण के बगैर भी अपनी विद्वता, वरिष्ठता और अपने साथियों तथा विद्यार्थियों के बीच मिलने वाले सम्मान की वजह से वे बेहद प्रशंसनीय ढंग से अपना कार्य कर रहे थे।

शायद, यही बात मैं उन अधिकांश विद्यार्थियों के प्रदर्शन के लिए भी कह सकता हूँ, जो तब प्राइमरी कक्षा 5 के स्तर पर प्रवाहपूर्ण ढंग से पढ़ सकते थे, लिख सकते थे और बुनियादी गणितीय क्रियाएँ कर सकते थे। यह प्रतिशत ऊपर चर्चित कारणों की वजह से हालिया सालों में काफी घटा है। मैं मानता हूँ कि इस मामले में प्रधानाध्यापकों की भूमिका भी एक महत्वपूर्ण कारण रही है।

डी.जगन्नाथ राव कर्नाटक के राज्य शैक्षणिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण विभाग (डी.एस.ई.आर.टी.) के निदेशक रहे हैं। अपने 37 वर्ष के कार्यकाल में उन्होंने ब्लॉक स्तर से राज्य स्तर तक के कई पद सम्भाले। वे 1999 से लेकर 2006 तक कर्नाटक में पब्लिक इंस्ट्रक्शन के निदेशक थे। इस भूमिका में वे माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, जनशाला प्रोजेक्ट, उत्तर–पूर्व कर्नाटक निदेशालय और अन्त में डी.एस.ई.आर.टी. के प्रभारी थे। वे 2010 में प्रकाशित हुई किताब ''Elementary Education in India Status, Issues and Concerns' के लेखक हैं। सेवानिवृत्त होने के पश्चात वे कई शिक्षा समितियों के प्रमुख भी रहे हैं। उनसे djrao303@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

14 स्कूल–प्रमुख की स्वायत्तता और जवाबदेही

निवेदिता बेडदुर

1982: केन्द्रीय विद्यालय का एक आम दिन। दिन की शुरुआत उपस्थिति रजिस्टर पर दस्तखत करने और कक्षा रजिस्टर लेने के लिए आखिरी मिनट की खेंचा–खेंची से होती है। आप एक ओर खड़े होकर शिक्षकों को जल्दी–जल्दी अपनी कक्षाओं की ओर जाते और फिर प्रार्थना सभा में पहुँचते देखते हैं। इसी बीच कोई अपनी छुट्टी का आवेदन–पत्र लेकर आता है और आपका ध्यान दूसरी ओर उलझा देता है। गतिविधियों के प्रभारी दिन की घटनाओं के बारे में आपको जानकारी प्रदान करते हैं। सभा समाप्त होती है। फिर देर से आने वालों से बात करना, कक्षाओं पर ध्यान देना, पढ़ाना, पालकों की बात सुनना, दफ्तरी मसलों को देखना, समारोहों, परीक्षाओं, पालक–शिक्षक बैठकों की योजना तैयार करना।

ऐसे दिन भी थे जब जीवन शान्तिपूर्ण था – और स्कूल आनन्दपूर्ण स्थान। प्राचार्य और शिक्षक स्कूल के लिए, अपने लिए और विद्यार्थियों के लिए सामर्थ्य–विकास के उपाय निकालने हेतु एक साथ मिलकर काम करते थे। स्कूली सुधार सभी कर्मचारियों की संयुक्त जिम्मेदारी होती थी। तब प्राचार्य की भूमिका क्या रहती थी? प्रबन्धक होने से ज्यादा कुछ नहीं।

दाखिले के नियम तय थे, पाठ्यचर्या और सह–पाठ्यचर्या सम्बन्धित गतिविधियों के मुख्य दिशा–निर्देश दे दिए जाते थे, प्रशासनिक एवं वित्तीय कार्यप्रणालियों की स्पष्ट पाबन्दियों समेत रूपरेखाएँ बनी रहती थीं। इन सीमाओं के दायरे में रहते हुए प्राचार्य निर्णायक अधिकारी होता था – 'परिवार का वास्तविक मुखिया'। वह कक्षा की गतिविधियों, तथा सह–पाठ्यचर्या गतिविधियों के दस्तूर सम्बन्धी निर्णय लेता था। स्कूल का वातावरण और संस्कृति, कक्षा की गतिविधियों में अपनाए जाने वाले नवाचार, सीखने–सिखाने के सिद्धान्त, विद्यार्थियों के लिए सलाह–मशविरा तथा कर्मचारियों का पेशागत विकास – इन सभी बातों का निर्धारण और इनसे जुड़ी समस्याओं का निराकरण स्कूल के स्तर पर ही किया जाता था। स्कूल–प्रमुख की जवाबदेही दसवीं और बारहवीं कक्षाओं के नतीजों तथा वित्तीय कार्यप्रणाली और व्यवहार से तय होती थी। पर असली आकलन तो विद्यार्थियों और पालकों द्वारा किया जाता था। स्कूल के कामकाज पर बहुत कम निगरानी रहती थी, उसमें बहुत कम दखलंदाजी की जाती थी। स्वायत्तता ज्यादा हुआ करती थी। पर क्या जवाबदेही भी ज्यादा थी?

> *ज्यादा अपेक्षाएँ, ज्यादा निगरानी, ज्यादा कार्यशालाएँ, ज्यादा प्रशिक्षण, ज्यादा पत्र, ज्यादा उत्तर। प्राचार्य सूचना–वितरण की मशीन बन गए।*

15 साल बाद: एक क्रान्ति हुई। अप्रत्यक्ष रूप से, धीरे–धीरे, दबे पाँव कक्षा की गतिविधियों और कार्यपद्धतियों और स्कूल के वातावरण में एक बदलाव आया। ज्यादा अपेक्षाएँ, ज्यादा निगरानी, ज्यादा कार्यशालाएँ, ज्यादा प्रशिक्षण, ज्यादा पत्र, ज्यादा उत्तर। प्राचार्य सूचना–वितरण की मशीन बन गए। दाखिले के नियम सख्त कर दिए गए। भिन्न–भिन्न तरह के आँकड़े और तथ्य लगातार भेजते रहना जरूरी हो गया–जैसे आधारभूत ढाँचे, दाखिले, बच्चों को स्कूल में बनाए रखने से सम्बन्धित तथ्य; लिंग, धर्म, जाति सम्बन्धी और मूल्यांकन, आकलन आदि से जुड़े आँकड़े। कम्प्यूटर क्रान्ति ने सूचना लेने–देने के ढंग को पूर्णतः बदल कर रख दिया। अब हमें सूचनाओं और आँकड़ों को ई–मेल करके या फैक्स द्वारा भेजना पड़ता था और टेलीफोन पर उन्हें दोहराना पड़ता था। यह तकनीकी दानव धीरे–धीरे हमारे स्कूल को घेरता जा रहा था। इसकी कीमत चुकाई वक्त ने – प्राचार्यों के पास कक्षाओं में जाकर वहाँ का हाल जानने का वक्त नहीं रहा। वे मुश्किल से ही अपने विद्यार्थियों और कर्मचारियों के साथ दैनिक रूप से सम्पर्क बनाए रख पाते थे।

एक क्षेत्र में केन्द्रीय विद्यालय संगठन को स्वायत्तता प्राप्त थी और उसके बारे में सोच बिलकुल स्पष्ट थी। यह क्षेत्र था कक्षा में गतिविधियों का। प्राचार्य ही सर्वदा प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के निदेशक थे। सबसे पहले वे खुद इस ओर अभिमुख होकर इन पाठ्यक्रमों पर अपने हाथ माँजते थे।

2002 : स्कूल कैसा दिखता है, यह महत्वपूर्ण हो गया। केन्द्र ने अपना बटुआ खोल दिया। केन्द्रीय स्तर पर प्रशासनिक निर्णय लिए गए और प्राचार्य की झोली में ढेर सारा पैसा आने लगा। सपने सच होने लगे। लॉबी सँवरने लगीं, प्राचार्य अपने कमरों के लिए कालीन और सोफे खरीदने लगे, बड़े मनोहर तरीके से उनके कमरे सजने लगे! कक्षाएँ उजली और हवादार दिखना शुरू हो गईं। हम निर्माण कार्यों के लिए मजदूरों को ठेके पर लगा सकते थे और आधारभूत सुविधाओं के विस्तार के लिए धन दे सकते थे। आधारभूत सुविधाओं से सम्बन्धित स्वायत्तता तो आई लेकिन वह अपने साथ समस्याएँ भी लाई –ज्यादा वित्तीय प्रक्रियाएँ – ज्यादा वित्तीय जवाबदेही!

स्वायत्तता का अर्थः कठिनाइयों से गुजरते हुए सीखे गए सबक

गुजरात की काँख में मौजूद एक नन्हा सा द्वीप है दीव। यह एक शान्त पर्यटन स्थल है, जहाँ बस एक कलैक्टरेट, मछुआरे, पुर्तगाली और भारतीय पासपोर्ट वाले देशज आंग्ल–भारतीय लोग और भारतीय वायु सेना द्वारा संचालित एक हवाईपट्टी है। यहाँ का केन्द्रीय विद्यालय दीव और हवाईअड्डे के बीच फुदम नामक गाँव में स्थित है। यहाँ पहली से लेकर दसवीं तक 300 से अधिक विद्यार्थी पढ़ते थे। यह स्कूल फुदम के सरकारी हाईस्कूल से उधार लिए गए 5 कमरों में लगता था। इस सरकारी स्कूल के 4 से 5 कमरों में दिन के अलग–अलग समय पर शिफ्टों में दो सरकारी स्कूल भी लगते थे। बाहर से ये कमरे जनजातीय झोपड़ियों जैसे दिखते थे – दीवारें जर्जर हो रही थीं, उनका प्लास्टर झड़ रहा था। दो कक्षाएँ एक ही कमरे में लगती थीं और एक, स्कूल के दफ्तर में। बारिश के दिनों में समुद्र का पानी स्कूल में घुस जाता था और पीने का पानी उपलब्ध नहीं रहता था। फिर भी दसवीं कक्षा के मेरे पहले बैच ने मुझे गौरवान्वित किया। सरकारी स्कूल और केन्द्रीय विद्यालय कमरों को सांझे तौर पर इस्तेमाल करते थे। स्थानीय प्रबन्धन भी मिल–जुल कर होता था।

दीव के इस केन्द्रीय विद्यालय में शिक्षकों और कर्मचारियों की भी कमी थी। इसका एक कारण यह था कि फुदम गाँव में बाहरी लोगों को रुकने की अनुमति नहीं थी। फुदम में केवल गृहणियाँ रहा करती थीं। उनके पति साल के अधिकांश समय घर से दूर जहाजों पर रहते थे। गाँव में अलिखित नियम था कि कोई भी घर किराए पर नहीं दिया जाएगा। इसलिए शिक्षकों को मजबूरी में काफी दूर रहना पड़ता था। गाँव के बड़े बुजुर्गों के साथ इस बाबत बातचीत करने के कई प्रयास किए जाने के बावजूद, शिक्षकों के लिए रहने के स्थानों का बन्दोबस्त नहीं हो पाया, इसलिए स्टाफ की कमी बनी रही। जाहिर है कि अप्रशिक्षित अस्थायी स्टाफ के साथ स्तरीय शिक्षा दे पाना दूर का स्वप्न था। टूटी–फूटी साइकिल पर स्कूल आने वाले एक शिक्षक अपने परिवार से मीलों दूर रह रहे थे। वे बस अपने तबादले का इन्तजार करते रहते थे। पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं।

इस स्थिति में कई सवाल उठते हैं। यदि मेरे पास स्वायत्तता होती तो क्या मैं कोई व्यवहार्य समाधान ढूँढ़ पाती? क्या मैं स्कूल को किसी अन्य जगह पर स्थानान्तरित करने का निर्णय ले पाती? स्वायत्तता का अभाव हमारी सम्पूर्ण स्कूल टीम द्वारा स्थिति से निपटने के लिए सोचे गए समाधानों के आड़े आ रहा था। मगर इस स्थिति में भी हल निकालने का प्रयास रहा। हमने एक साथ मिलकर उन लोगों की मदद की जो तबादलों के सहारे अपने–अपने परिवारों के करीब जाना चाहते थे। जो वहाँ बने रहे, उन्होंने एकजुट होकर काम किया। स्कूल के समय में थोड़ा फेरबदल किया गया। शिक्षकों ने बहीखातों का काम और वित्तीय मसले अपने हाथ में ले लिए। किसी भी शिक्षक को स्कूल के बाद रोककर नहीं रखा गया। 'पद', 'उपाधियों' जैसे मसले गायब हो गए। एक प्राइमरी शिक्षक, जिनकी गणित की समझ अच्छी थी, दसवीं कक्षा के नए बने बैच को पढ़ाने लगे। प्राचार्य का कोई दफ्तर नहीं था। मैं नवीं कक्षा के साथ बैठकर, उनसे घिरी रहकर अपना काम करती थी।

दीव में स्वायत्तता के न होने से समस्याएँ थीं। मेरे पास न कमरे थे, न पानी, न शौचालय, न कर्मचारी – और आर्थिक सीमाएँ भी थीं। लेकिन इच्छाशक्ति थी। बी.ई.ओ. ने एस.एस.ए. निधि के माध्यम से मेरे लिए रिकॉर्ड समय में दो कमरे निर्मित करवा दिए! मैंने अपने पति से मदद ली और एक स्थानीय बढ़ई से बहुत सस्ते में सभी बैंचें सुधरवाईं। अपने समस्त नए स्टाफ को अनुमति दी कि वे अपने लिए रहने का इन्तजाम हो पाने तक स्कूल के अहाते में ही ठहर सकते हैं। एक पुराने, इस्तेमाल न होने वाले शौचालय को साफ करवाकर उसकी मरम्मत करवाई। दसवीं कक्षा के एक विद्यार्थी के पालक पानी की किल्लत होने पर हमेशा टैंकर भिजवा देते थे। समुद्र का पानी तो खैर स्कूल में आ ही जाता था, जिसकी बाद में हमें सफाई करना पड़ती थी। स्टाफ में कामों का आवंटन बहुत ही नूतन ढंग से किया गया था और इसके लिए स्कूल कर्मचारियों की पत्नियों ने तकरीबन मानद तौर पर लिपिकीय कार्य करने में मदद की। अपने पतियों के साथ रहने की वजह से वे सुरक्षित भी महसूस करती थीं। और इससे उन्हें डी.एड. के लिए अपने प्रायोगिक कार्य करने में भी मदद मिली।

यदि मेरे पास स्वायत्तता होती तो मैं शायद उपयुक्त आवास मिलने तक नए भर्ती हुए शिक्षकों को पास के कुछ होटलों में आराम से और ज्यादा लम्बे समय तक रहने की सुविधा दे देती। और शायद मजबूरीवश मैंने दिल्ली कार्यालय, कलैक्टरेट और स्थानीय प्रशासन की निरन्तर चिरौरी न की होती, उनके चक्कर न लगाए होते – बल्कि बिना किसी देरी के, तत्काल, सबसे पहली प्राथमिकता के तौर पर स्कूल की इमारत और कर्मचारी–आवास बनवाए होते। कम

स्वायत्तता का मतलब था समस्या के निराकरण हेतु निवेदन–पत्र लिखने, विभिन्न कार्यालयों में घूमते रहने तथा अधिकारियों के पास भटकते रहने जैसे कामों में बहुत सा समय बरबाद करना। पर आखिर में उत्तर मिले और केन्द्रीय विद्यालय के लिए जमीन मंजूर हो गई।

पालकों की अपेक्षाएँ और स्वायत्तता

स्कूल के लिए दूरदर्शी कल्पना करने में या उसकी नीति–निर्माण प्रक्रिया में प्राचार्य को कभी भी शामिल नहीं किया जाता। ये बातें तो उसकी पहुँच से दूर, नीति निर्माताओं या विद्वानों के कक्षों में तय की जाती हैं। उसके बाद ही वे जमीनी हकीकत में तब्दील होती हैं। लेकिन प्राचार्य ही है जो इस तरह विरासत में मिली विचारधारा को व्यावहारिक रूप देता है। आज हम उत्कृष्ट शिक्षा की बात करते हैं। पालक जब इस बाबत सोचते हैं तो उनके दिमाग में सिर्फ अंक और ग्रेड होते हैं। वे अपने बच्चों को प्रतिस्पर्धी बनाना चाहते हैं। जब सी.बी.एस.ई. ने प्राइमरी कक्षाओं में अंकों की व्यवस्था को खत्म करके ग्रेड प्रणाली लागू की तो पालकों ने उसका कड़ा विरोध किया था। आज भी, जब वैकल्पिक और लाभकर काम–धन्धों की भरमार हो गई है, पालक चाहते हैं कि उनके बच्चे विज्ञान पढ़ें और इंजीनियर या डॉक्टर बनें। अतः सोच का बदलना बहुत धीमी और पीड़ादायी प्रक्रिया है। जब सी.बी.एस.ई. ने दसवीं कक्षा की बोर्ड परीक्षा खत्म कर दी तो हमारे स्टाफ के एक सदस्य ने कहा, 'आपको पता है, अब मेरा लड़का पढ़ेगा ही नहीं।' हाँ, तुम्हारा लड़का रट्टा नहीं लगाएगा, पर क्यों वह खोज की यात्रा पर निकलकर यह पता नहीं लगा सकता कि उसकी रुचि क्या है? पालक मूर्त किस्म का प्रमाण चाहते हैं तब ही उन्हें तसल्ली होती है कि शिक्षक जो पढ़ा रहे हैं, उनके बच्चे उससे कुछ सीख रहे हैं। निरन्तर और विस्तृत मूल्यांकन के बारे में आशंका है कि वह 'व्यक्तिपरक', और इसलिए 'पक्षपाती' होता है। पालकों की अपेक्षाओं, सामुदायिक अवरोधों, राजनीतिक वातावरण और भौगोलिक हालात के चलते स्कूल–प्रमुख के पास किस प्रकार की स्वायत्तता रहती है?क्या स्कूल–प्रमुख के पास पालकों की अपेक्षाओं से आगे तक या उनके विरुद्ध जाने की स्वायत्तता होनी चाहिए?

यदि हमें दूर फैले क्षेत्रों की जरूरतें पूरी करनी हैं तो राजनैतिक उथल–पुथल और सामुदायिक बाधाओं के बीच भी स्कूल–प्रमुख को अपनी स्वायत्तता और दूरदर्शिता का तारतम्य इन हालात के साथ अबाध रूप से बैठाना होगा। केरल और काठमांडू के स्कूलों में सिर्फ 'क' ही समान नहीं है, बल्कि इनमें यह बात भी समान है कि दोनों जगहों के स्कूल माओवादियों के 'बन्द' के चलते बन्द हो जाते हैं। बच्चों की सुरक्षा प्रमुख चिन्ता होती है तो किसी स्कूल को बन्द करना अकसर मुश्किल होता है। बच्चे सड़कों की बजाय स्कूलों में ज्यादा सुरक्षित होते हैं। आखिर कब स्कूलों को राजनीतिक शरारत की हरकतों से बख्शा जाएगा और स्वायत्तशासी संस्थाएँ बनने का मौका मिलेगा?

2007 में अमेरिकन इंस्टीट्यूट्स् ऑफ रिसर्च तथा टॉमस बी.फोर्डहैम संस्थान ने "द अटॉनमी गैप" शीर्षक से एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इसके मुताबिक जवाबदेह व्यवस्थाओं का काफी सारा बोझ प्राचार्य अपने कन्धों पर ढोते हैं लेकिन आमतौर पर उनके पास विद्यार्थियों के प्रदर्शन को वाकई में सुधारने के लिए जरूरी अधिकार नहीं होते। यह बात विशेष तौर से स्कूल में स्टाफ नियुक्त करने की बात पर लागू होती है।

निजी स्कूलों में स्वायत्तता

केन्द्रीय विद्यालयों, राज्य बोर्ड स्कूलों, नवोदय विद्यालयों जैसे सरकारी स्कूलों के कई प्रमुख विलाप करते हैं कि वे अपने कर्मचारियों की नियुक्ति और बर्खास्तगी के सिलसिले में स्वायत्त नहीं हैं। यह स्कूल–प्रमुख के लिए वाकई चिन्ता का विषय है क्योंकि बहुत–सा कीमती वक्त स्टाफ के लोगों के रवैये और क्षमताओं को बदलने या बढ़ाने के प्रयास में चला जाता है, जबकि यही समय शिक्षा में गुणवत्ता लाने के लिए तथा स्कूल के स्वप्न को हकीकत में बदलने में लगना चाहिए था।

कुछ निजी स्कूलों में प्राचार्यों के पास यह स्वायत्तता है। लेकिन इन स्कूलों को भी कर्मचारियों द्वारा नौकरी छोड़ देने की ऊँची दर के कारण चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। लेकिन उनकी यह समस्या तब तक रहती है जब तक कि उनकी मजबूत आर्थिक बुनियाद नहीं डल जाती और वे अपने कर्मचारियों को प्रतिस्पर्धात्मक वेतन नहीं देने लगते। ये स्कूल अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए भारी–भरकम शुल्क देने वाले पालकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह जरूरी है कि स्कूल पालकों के सामने सेवाओं की एक अच्छी–खासी सूची रखें – शिक्षा, खेल, गतिविधियाँ, और स्कूली शिक्षा के बाद देश के एवं देश के बाहर स्थित प्रतिष्ठित कॉलेजों में दाखिले का वायदा। उत्पादन–टकसाल बनना इन स्कूलों की जरूरत बन गई है – यहाँ से बेहद सफल विद्यार्थी, महान खिलाड़ी और बहुआयामी प्रतिभा वाले सुपरमैन पैदा होते रहने चाहिए। ऐसे

> *स्कूल के लिए दूरदर्शी कल्पना करने में या उसकी नीति–निर्माण प्रक्रिया में प्राचार्य को कभी भी शामिल नहीं किया जाता। ये बातें तो उसकी पहुँच से दूर, नीति निर्माताओं या विद्वानों के कक्षों में तय की जाती हैं। उसके बाद ही वे जमीनी हकीकत में तब्दील होती हैं। लेकिन प्राचार्य ही है जो इस तरह विरासत में मिली विचारधारा को व्यावहारिक रूप देता है।*

स्कूलों के प्राचार्य अकसर अपनी प्रबन्धन कमेटी और पालकों के बीच फँसे हुए, जबरदस्त दबाव में काम करते हैं। इसलिए हैरत नहीं कि वे शिक्षा का अधिकार कानून से अपनी स्वायत्तता पर गम्भीर खतरा महसूस करते हैं! वंचित तबकों के बच्चों को लेने की बाध्यता की वजह से दाखिले की अपनी कसौटी को 'हल्का' करना पड़े तो वे गुणवत्ता कैसे सुनिश्चित करें?उनके पास इस कानून का विरोध करने के तर्कसंगत कारण हैं। वे स्वायत्तता के बारे में नहीं बल्कि अपनी देखरेख में आए बच्चों के हित के बारे में सोच रहे हैं। वे उन कुशलताओं और योग्यताओं के बारे में भी चिन्तित हैं, जिनका शिक्षक के पास होना आवश्यक है ताकि वह कक्षा के भीतर विविधता के चकरा देने वाले आयामों को सम्भालने के लिए और समावेशी वातावरण बना पाने के लिए तैयार हो। सुविधाहीन विद्यार्थियों के दाखिलों की प्रक्रियाओं को लेकर आर.टी.ई. प्रावधानों में स्पष्टता नहीं है। साथ ही क्षमता के स्तरों में अन्तर के साथ काम करने में जमीनी स्तर की कई चुनौतियाँ हैं। मूल्यांकन के लिए भी ऐसे मापदण्ड तय होने होंगे जो बोर्ड के मुताबिक और विद्यार्थी की क्षमता के दायरे में हों। इस प्रक्रिया की शुरुआत करने में आने वाली प्रारम्भिक समस्याओं ने अचानक ही प्राचार्यों को बहुत कठिन स्थितियों में ला खड़ा किया है।

असम में किए गए एक जमीनी शोध से पता चलता है कि स्कूली शिक्षा के सभी स्तरों पर प्रधानाध्यापक की भूमिका को बस इस तरह देखा जाता है कि उसे कुछ तय कार्य करने होते हैं जिनका शिक्षा विभाग द्वारा उसे दी गई शक्तियों के माध्यम से किया जाना अपेक्षित है। ये कार्य इस प्रकार हैं: (क) प्रशासनिक, यानी स्कूल का रोज का प्रशासन, जिसमें संस्था चलाने की प्रक्रिया से सम्बद्ध सभी गतिविधियाँ और प्रशासनिक पहलू शामिल रहते हैं; (ख) वित्तीय, यानी स्कूल के खातों एवं नकदी–बही का रख–रखाव; निधि इकट्ठा करना; स्टाफ में वेतन का वितरण, आदि; और (ग) शैक्षणिक, यानी कक्षा में होने वाली पढ़ाई तथा स्कूल के स्टाफ की निगरानी। इस दृष्टिकोण को शिक्षा अधिकारियों द्वारा व्यवस्थित एवं अनवरत प्रयास के माध्यम से विस्तार दिए जाने की जरूरत है ताकि प्रधानाध्यापकों को मौजूदा दशा में सुधार करते रहने की स्थिति से आगे जाकर स्कूल–विकास कार्यक्रमों को ज्यादा प्रभावशाली ढंग से लागू करने में मदद मिल सके।

हमें गम्भीरता से एक ऐसी व्यापक प्रक्रिया निर्मित करने की जरूरत है जिसके माध्यम से प्रधानाध्यापक भी नीति–निर्माण समूहों का हिस्सा बन सकें। स्कूलों के लिए दूरदर्शी लक्ष्य और योजनाएँ बनाने के कार्य में इन लक्ष्यों और योजनाओं को हकीकत में बदलने वाले प्राचार्यों, प्रधानाध्यापकों को शामिल करना बहुत जरूरी है। आखिर वे लोग ही इस स्वप्न को जमीनी अनुभवों के गलियारों में से लेकर जाते हैं। बलपूर्वक बदलाव करने से उसी तरह की प्रतिक्रियाएँ सामने आएँगी जैसी आर.टी.ई. प्रावधानों को लेकर निजी स्कूलों के प्राचार्यों के कड़े विरोध में आई हैं। प्रधानाध्यापकों के सामने आने वाली चुनौतियों की हकीकत को स्वीकार करना और उन्हें बदलाव के लिए तैयार करना तो बस पहला कदम है।

References:

Role of Head teachers in School Management in India : Case Studies from Six States : Research coordinated by R. Govinda : Asian Network of Training and Research Institutions in Educational Planning : (ANTRIEP) in collaboration with The European Commission.

निवेदिता बेडदुर अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी रिसोर्स सैन्टर, बंगलौर की एकैडमिक्स एवं पैडागॉजी टीम के साथ एक विशेषज्ञ के रूप में कार्यरत हैं। उन्होंने अँग्रेजी भाषा एवं साहित्य में एम.फिल. की डिग्री हासिल की है। उन्होंने 27 वर्षों तक केन्द्रीय विद्यालय संगठन में शिक्षिका, उप प्राचार्य और प्राचार्य की हैसियत से, तथा डॉ. डी.वाय. पाटिल एकैडमी'ज़ शान्तिनिकेतन, कोल्हापुर की प्राचार्य के रूप में काम किया है। उनकी सेवाओं के मद्देनजर उन्हें मानव संसाधन मंत्रालय की ओर से 2004 में इन्सेन्टिव अवॉर्ड फॉर टीचर्स दिया गया।

निवेदिता ने केन्द्रीय विद्यालय संगठन की संस्थानिक पत्रिका, 'संगम' के लिए लेख और कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने महाराष्ट्र राज्य बोर्ड पाठ्यक्रम के लिए कार्यपुस्तिकाएँ भी लिखी हैं। वर्तमान में वे आठवीं कक्षा के लिए संरचनात्मक एवं अभिव्यक्तिशील व्याकरण पुस्तक लिख रही हैं, जिसे एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका द्वारा प्रकाशित किया जाएगा। उनकी रुचि के क्षेत्र हैं, अँग्रेजी भाषा–शिक्षण, शिक्षक–प्रशिक्षण और शोध। उनसे nivedita@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

15 स्कूल में नेतृत्व : कृपया हमें मार्ग दिखाओ !

अमुक्ता महापात्र

नेतृत्व के अनेक रूप हैं जिनका उद्‌भव विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भों में हुआ। वे आज भी हमारे बीच मौजूद हैं, हालाँकि थोड़े भिन्न स्वरूपों में। नेतृत्व के ये रूप–स्वरूप आज भी अपनी भूमिका और समाज के साथ अपनी अन्तःक्रिया को सच्चाई से निभा रहे हैं। हमारे पास नए रूप में ऐसे योद्धा हैं जो युद्धभूमि की बजाय अब कम्पनियों के निदेशक मण्डलों में दिखाई देते हैं, या अग्रणी उद्यमी हैं। नई शक्ल में राजा हैं जो अब अनेक अवसरों की शोभा बढ़ाते हैं और संरक्षक की भूमिका निभाते हैं। परदे के पीछे रहने वाले सलाहकार हैं जिन्हें आज के परामर्शदाताओं के रूप में पहचाना जा सकता है। आज एक नए अवतार में पुराने दौर के चरवाहे हैं जो संस्थाओं और संगठनों में भटक जाने वालों को राह पर लाने का काम करते हैं; और शायद कई अन्य प्रकार के नायक भी हैं। इनमें से कई नायक आज भी वर्तमान शिक्षा–क्षेत्र को प्रभावित करने के लिए जिन्दा हैं। अतीत हमारे अवचेतन में मौजूद खिलाड़ी है मगर हम उसे स्वीकारते नहीं – यही बात वर्तमान स्थिति को भरमाने वाला बना देती है, और इसी कारण हम वर्तमान को, मानसिकता को प्रभावित करने वाले उसके आयामों के साथ, नहीं समझ पाते।

> *स्कूलों में नेतृत्व और शिक्षा कार्यक्रमों के लिए एक 'मुश्किल जगह' और भी है। वह यह, कि मूल तौर पर जो काम किए जाने की जरूरत है, उसकी प्रकृति अमूर्त है; और मार्गदर्शन करने वाले नेतृत्व को अपने शिक्षकों और कर्मचारियों को इस रूप में सक्षम बनाना है कि वे इन अमूर्त लक्ष्यों की ओर जा पाएँ।*

स्कूलों में नेतृत्व और शिक्षा कार्यक्रमों के लिए एक 'मुश्किल जगह' और भी है। वह यह, कि मूल तौर पर जो काम किए जाने की जरूरत है, उसकी प्रकृति अमूर्त है; और मार्गदर्शन करने वाले नेतृत्व को अपने शिक्षकों और कर्मचारियों को इस रूप में सक्षम बनाना है कि वे इन अमूर्त लक्ष्यों की ओर जा पाएँ। समस्या यह भी है कि मार्गदर्शन के लिए कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं हैं। इसके परिणामस्वरूप, चेतन या अचेतन रूप में, कैसे भी, विभिन्न भागीदारों के प्रयास हर चीज को, बल्कि किसी भी चीज को, कुछ ऐसा बना देने के होते हैं जिसे लोग देख सकें और अपनी पकड़ में रख सकें, ताकि वे प्रत्यक्ष, ठोस तौर पर यह कह सकें कि हम जो करने चले थे वह हमने हासिल कर लिया है। अकसर ये शिक्षा–कार्यक्रम की गैर–जरूरी या परिधि की बातें होती हैं, इसलिए ये हमें गहरे आधारभूत मुद्दों से सम्बोधित करवाने के बजाय उपलब्धि का भ्रम मात्र पैदा करती हैं।

भ्रम और अस्पष्टता की इस संस्कृति में अच्छा प्रदर्शन करने का दबाव रहता है। इसी के बीच नेतृत्व प्रदान करने वाले लोग, चाहे वे स्कूलों के प्रमुख हों, या शैक्षणिक पर्यवेक्षक, समन्वयक, प्रशासनिक अधिकारी और प्रशिक्षक हों या परामर्शदाता, सब ऐसे साक्ष्य निर्मित करने के जाल में फँस जाते हैं जो संगठन या व्यवस्था के अच्छे प्रदर्शन को दर्शाते हों। परिणामस्वरूप, स्कूल अन्ततः विद्यार्थियों का मूल्यांकन जानकारियों के टुकड़ों के आधार पर करने लगते हैं न कि सार्थक ज्ञान के आधार पर। बच्चों की प्रतिभा का प्रदर्शन बस 'वार्षिक उत्सवों' पर किया जाता है, उसका सम्बन्ध समुदाय की अभिव्यक्ति के माध्यमों से नहीं जोड़ा जाता। शिक्षकों के लिए परिणाम दर्शाने वाली ऐसी योजनाएँ बनाई जाती हैं जो शीघ्र ही यान्त्रिक कर्मकाण्डों में परिवर्तित हो जाती हैं; या फिर हार मानकर प्रयास करना बन्द कर दिया जाता है और बच्चों को स्कूली शिक्षा का अपना रास्ता भटकते हुए तय करने के लिए छोड़ दिया जाता है।

पर इसका मतलब यह नहीं है कि स्कूली शिक्षा और सीखने–सिखाने में हर चीज अमूर्त या अस्पष्ट होती है। उसमें ऐसे क्षेत्र भी हैं जिनकी रूपरेखा स्पष्ट रूप से बनाए जाने की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए, न केवल विषयवस्तु बल्कि सीखने–सिखाने की प्रक्रियाएँ भी; या शिक्षक के लिए ऐसा ढाँचा जिसके भीतर रहते हुए वह योजना बना सके; कुछ खास कौशल विकसित करने के लिए एक छोर से दूसरे छोर तक के भिन्न–भिन्न प्रकार के विचार; एक समग्र योजना जिसमें से बच्चे अपने लिए रुचिकर तत्वों का चुनाव कर सकें। आवश्यकता है कि ये सिद्धान्त आधारित शिक्षण और जीवन के केन्द्र तक पहुँचें, जिसे प्रदर्शित और परिभाषित भी किया जा सकता हो। जिन शेष बातों को स्पष्ट रूप से परिभाषित न भी किया जा सके, शायद उनका वर्णन किया जा सकता है। शिक्षा समुदाय को सहजता के साथ यह स्वीकार करना होगा कि सीखने और जीने के कुछ बेहद महत्वपूर्ण पहलू अपनी प्रकृति में आकारहीन ही होते हैं।

कभी–कभी शिक्षाविद यह मत व्यक्त करते हैं कि स्कूल की सारी पढ़ाई को मापने योग्य बनाया जा सकता है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि उसमें कुछ भी नापने योग्य नहीं बनाया जा सकता। यदि यह 'सब कुछ या कुछ भी नहीं' का द्विभाजन बन जाता है तो बच

निकलने के अनेक रास्ते निकल आते हैं, और स्कूल का काम – यानी एक ऐसा माहौल तैयार करना जिसमें बच्चों को "जीवन के लिए मदद" के रूप में शिक्षा मिल पाए – अकसर थम जाता है।

आज स्कूल का नेतृत्व करने वालों की यह वह पृष्ठभूमि है जिसे आमतौर पर अभिव्यक्त नहीं किया जाता। ये स्कूल–नायक अकसर नेतृत्व करने के लिए प्रशिक्षित नहीं होते बल्कि किन्हीं अन्य कार्यों के लिए योग्यता–प्राप्त होते हैं। इसी के चलते उनके द्वारा किए जाने वाले अधिकांश कार्य और गतिविधियाँ तदर्थ प्रकार की होती हैं। ठोस सिद्धान्तों का स्थान नारे ले लेते हैं और आजमाई गई पद्धतियों पर व्यक्तिगत धारणाएँ हावी हो जाती हैं।

कार्यक्षेत्रों की सीमाएँ बँधी रहती हैं, और उनके बीच आदान–प्रदान की छूट नहीं रहती। सम्बन्धों का बनना–बनाना पदानुक्रम के तहत ही होता है और यथास्थिति का सख्ती से पालन किया जाता है। ये तरीके अव्यक्त लक्ष्यों और अस्पष्ट समग्र उद्देश्यों के साथ काम करने के भय से बचाव और सुरक्षा के तरीके हैं। बाहरी तौर पर एक व्यवस्था बनाए रखी जाती है, यद्यपि आन्तरिक कामकाज अव्यवस्थित रहता है। और इसलिए, मामूली बातें सबसे महत्वपूर्ण हो जाती हैं और वे ही एक पंगु व्यवस्था की बैसाखियाँ बन जाती हैं।

यह परिदृश्य हौसला बढ़ाने वाला नहीं है। इसके बावजूद, इन्सानी जज्बे और भारतीय सोच की विशिष्ट खूबी ने बचे रहने और जोश तथा ऊर्जा के साथ जीने के तरीके खोज लिए हैं। हाल ही में छिन्दवाड़ा, मध्य प्रदेश के आदिवासी समुदायों के बच्चों के लिए बने एक स्कूल का दौरा करते हुए मैंने पाया कि समुदाय और शिक्षक परस्पर प्रेम और सहृदयता से पेश आते हैं और बच्चों के अधिकार के लिए संघर्षरत हैं। यहाँ एक गैर–सरकारी संगठन शिक्षा का अधिकार कानून तथा अन्य राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं की आवश्यकताओं को पूरा करने में समुदाय की मदद भी कर रहा था। शिक्षक को न तो खलनायक और न ही व्यवस्था के शिकार की तरह देखा जा रहा था। वह भी समुदाय के साथ ऐसी हार्दिक उदारता से काम कर रहा था जो आसानी से देखने को नहीं मिलती। बच्चों ने स्कूल में दिए जाने वाले दण्डों के बारे में एक आम शिक्षक का मजाक बनाते हुए एक नाटक प्रस्तुत किया। शिक्षकों ने बिना किसी झेंप के न केवल सरल भाव से इसे स्वीकारा बल्कि उसका आनन्द भी उठाया।

'कार्यकारी प्रधान–शिक्षक' एक शिक्षक ही की तरह सहज, और स्वतःस्फूर्त नायक जैसा था। वह कक्षा की संस्कृति और माहौल में बदलाव लाने में मदद कर रहा था; समुदाय को स्कूल का गतिशील, अभिन्न अंग होने की छूट दे रहा था; और गैर सरकारी संगठन के कार्यकर्ताओं के लिए भी कुछ करने की गुंजाइश छोड़ रहा था। और साथ ही, गाँव में शिक्षा विभाग का प्रतिनिधि होने के नाते आवश्यकता पड़ने पर वह अपने विभाग का पक्ष भी दृढ़ता से रखता था।

कमी थी तो वह शिक्षा की गुणवत्ता में थी। और इसे दूर करने के लिए उसे न तो विभाग से और न ही किसी अन्य स्रोत से कोई मदद मिल रही थी। इस क्षेत्र में उसकी सीमाओं का कारण शिक्षकों को दिया जाने वाला गैर–पेशेवर प्रशिक्षण और बाद में निरन्तर मार्गदर्शन का अभाव था। शिक्षक के तौर पर स्वयं उसके विकास के लिए या दूसरों के लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभाने हेतु किसी व्यवस्था का न होना भी एक कारण था। गुणवत्ता में कमी इस बात से जाहिर थी कि बच्चों की अवधारणात्मक समझ की तुलना उन्हीं के विशेष आयु वर्ग वाले अन्य बच्चों की समझ से की जाए तो वे अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुँचते। एक बढ़िया नायक होने के लिए वह अपने आन्तरिक संसाधनों पर निर्भर था। स्कूल के प्रमुख कार्य (यानी सीखने–सिखाने को सम्भव बनाना) के लिए शिक्षा विभाग को उसकी मदद को आना चाहिए था, लेकिन इस मदद में न केवल कमी थी बल्कि यह कमी भी एक बहुत बड़ी खाई के रूप में थी।

जब एक अन्य राज्य में एक सरकारी कार्यक्रम का मूल्यांकन किया गया तो पता चला कि नमूने के स्कूलों में से एक–तिहाई में प्रधान–शिक्षक का पद महीनों से खाली पड़ा था और 'कार्यकारी प्रधान शिक्षकों' से काम चलाया जा रहा था। ऐसा क्यों है कि प्रगतिशील राज्यों में भी स्कूल–प्रमुख या नायक के अभाव को गम्भीरता से नहीं लिया जाता?

योजना बनाना किसी संस्था या कार्यक्रम के प्रमुख की एक आवश्यक जिम्मेदारी होती है, लेकिन इसे अक्सर उसकी सम्पूर्णता में, या सरल–साधारण ढंग से भी, नहीं समझा जाता। पूर्वी भारत के एक राज्य के साथ काम करते हुए – और एक अन्य उदाहरण में प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रधानाचार्यों के साथ काम करते हुए – जब वार्षिक योजना तैयार की गई तो उसमें एक दी गई समय–सीमा में विभिन्न कार्यों की सारणी बनाने का तत्व नदारद था। तारीखों और महीनों के उल्लेख के बिना क्या उस मसौदे को योजना की संज्ञा दी जा सकती थी?

> *शिक्षा व्यवस्था में नायकों को विकसित करने की तीव्र आवश्यकता का अहसास होना जरूरी है। सौभाग्य से, ऐसे लोगों में से अनेक के पास अपने जीवन–अनुभवों से हासिल कुछ कौशल होते हैं, पर उन्हें बस थोड़े से अतिरिक्त सहारे की जरूरत होती है, ताकि वे ऐसे नेता बन सकें, जो अहंकारी और केवल अपने बारे में सोचने वाले न होकर, आगे आने में और नेता बनने में दूसरों की मदद कर सकें।*

शिक्षा व्यवस्था में नायकों को विकसित करने की तीव्र आवश्यकता का अहसास होना जरूरी है। सौभाग्य से, ऐसे लोगों में से अनेक के पास अपने जीवन–अनुभवों से हासिल कुछ कौशल होते हैं, पर उन्हें बस थोड़े से अतिरिक्त सहारे की जरूरत होती है, ताकि वे ऐसे नेता बन सकें, जो अहंकारी और केवल अपने बारे में सोचने वाले न होकर, आगे आने में और नेता बनने में दूसरों की मदद कर सकें।

क्या स्कूल–प्रमुख ऐसे योद्धा हो सकते हैं जो कन्धे से कन्धा मिलाकर इस लड़ाई में शिक्षक के साथ खड़े हों? उन्हें प्राथमिक स्कूल में काम करने का अनुभव है या नहीं, इसे मुद्दा बनाना जरूरी नहीं है; महत्वपूर्ण यह है कि क्या वे कक्षा के मैदान में हो रहे काम में मददगार हो सकते हैं?

क्या यह सम्भव नहीं है कि नेतृत्व एक शिक्षक की तकलीफों और परेशानियों को सहृदयता से सुने? व्यवस्था में शिक्षकों की बात सुनने वाले किसी ऐसे व्यक्ति के अभाव में, जिसके आगे वे अपनी चिन्ताएँ और आशंकाएँ व्यक्त कर सकें, जब वहाँ कोई 'बाहर का' व्यक्ति पहुँचता है तो वे अक्सर उसे ही अपनी हताशा भरी व्यथा सुनाने लगते हैं। हो सकता है कि स्कूल–प्रमुख के पास उन्हें देने के लिए कोई सलाह या उत्तर न हो, पर क्या वह शिक्षकों को समय और सुविधा देकर उनकी समस्याएँ नहीं बाँट सकता, जिससे बहुत सम्भव है कि वे स्वयं अपने हल ढूँढ़ निकालें?

क्या स्कूल–प्रमुख ऐसा संगठनकर्ता या गड़रिया नहीं हो सकता जो स्कूल व्यवस्था के समग्र उद्देश्य को हासिल करने के मकसद से अपने अधीनस्थ लोगों के लिए आवश्यक शैक्षणिक पोषण और सहयोग का प्रबन्ध कर सके?

क्या नेतृत्व किसी शिक्षक को कक्षा का राजा या रानी होने की शक्ति का उचित उपयोग करने के काबिल नहीं बना सकता?– बच्चों पर अहसान करने के लिए नहीं, बल्कि देश के लक्ष्यों के अनुरूप लोकतान्त्रिक संस्कृति विकसित करने के लिए।

क्या शिक्षक स्कूल–प्रमुख से कहेगा, "कृपया मुझे मार्ग दिखाओ – मुझे सुदूर को देखने की कामना नहीं है, मेरे लिए बस एक कदम ही काफी है।''

या क्या शिक्षक यह कहना पसन्द करेगा, "... ऐसा मार्ग दिखाओ जो मन और मस्तिष्क को हमेशा विस्तृत होते विचार और कार्य की ओर ले जाता हो... ।"

क्या शिक्षक को एक साधारण सिपाही की तरह कदम–कदम पर बस वैसा करना है जैसा उससे कहा जाता है, या शिक्षा में नेतृत्व देने वालों द्वारा उसके काम की विराटता और गहराई को उसके लिए इस रूप में खोला जा सकता है कि वह समर्थ और सशक्त बन पाए?

अमुक्ता महापात्रा वर्तमान में स्कूलस्केप की निदेशक हैं। इस संगठन का ध्यान कक्षा में पढ़ाई की गुणवत्ता बढ़ाने में स्कूलों, संगठनों और शिक्षा विभागों के लिए शिक्षकों और अन्य सहयोगी कार्यदलों के विकास पर केन्द्रित है। वे शिक्षकों की शिक्षा एवं विकास पर अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा सरकार के लिए परामर्श कार्य कर चुकी हैं और इसी के चलते शिक्षा के क्षेत्र में उनकी अन्तर्दृष्टि महत्वपूर्ण है। उनसे aamukta.m@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

16

सफल स्कूलों को अलग करने वाले कारक
लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम के निष्कर्ष

डी. डी. करोपाडी एवं एस. गिरिधर

डी. डी. करोपाडी

एस. गिरिधर

अ. सन्दर्भः भारत के ग्रामीण सरकारी स्कूल

उत्तर–पूर्व कर्नाटक में यादगीर से लेकर गुजरात में बनासकांठा और साबरकांठा, मध्यप्रदेश में विदिशा और दतिया, राजस्थान में टोंक और सिरोही या उत्तराखण्ड में उत्तरकाशी और ऊधमसिंह नगर में, हर जगह कहानी एक–सी है। हमारे सरकारी प्राथमिक स्कूलों में से 10 प्रतिशत से भी कम यह सुनिश्चित कर पाते हैं कि सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की तीन बुनियादी कसौटियाँ – पूर्ण नामांकन, विद्यार्थियों का बने रहना या नियमित उपस्थिति, और पढ़ाई के परिणामों की उपलब्धियाँ – पूरी हो रही हैं। जहाँ पूर्ण नामांकन का लक्ष्य शायद हमारे 90 प्रतिशत से भी अधिक स्कूलों में पूरा हो रहा है, वहीं अधिकांश स्कूलों में बच्चों की औसत उपस्थिति 70 प्रतिशत के आसपास होगी। पर दर्दनाक तथ्य यह है कि 10 प्रतिशत से भी कम स्कूल अपने अधिकांश बच्चों के द्वारा पढ़ाई के परिणामों की पर्याप्त उपलब्धि प्रदर्शित कर पाते हैं, जबकि शेष 90 प्रतिशत साफ तौर पर दयनीय प्रदर्शन कर रहे हैं।

केवल थोड़े से स्कूल ही क्यों उन बाधाओं से पार पाने में सफल होते हैं जिनका सामना भारत के हमारे सभी स्कूलों को करना पड़ता है? वे कोई 'महान' स्कूल नहीं हैं – जिनकी महान कल्पना हो, महान उद्देश्य, महान कक्षा–प्रक्रियाएँ और असाधारण समीक्षात्मक सोच तथा अवधारणात्मक योग्यताओं वाले बच्चे हों। पर ये स्कूल बस इसलिए प्रशंसनीय हैं क्योंकि वे यह प्रदर्शित करने में समर्थ हैं कि उनके स्कूल में हर बच्चा एक स्नेहपूर्ण और क्षमतावर्धक वातावरण में सीख रहा है। वे महानता से बहुत दूर हैं – पर उन्होंने खाई को पार कर लिया है। बाधाओं को पार कर लेने की सामर्थ्य के सन्दर्भ में ही हमने उन्हें ''सफल स्कूल'' कहा है। इसी सन्दर्भ और सफलता की सीमित परिभाषा के अन्तर्गत ही हम उन कारकों की पड़ताल कर रहे हैं जो इन स्कूलों को ''सफल'' बनाते हैं।

ब. शोध आधारः लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम

लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम – जो राज्य सरकार और अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का संयुक्त प्रयास है – 2002–2005 के दौरान उत्तर पूर्व कर्नाटक के सात जिलों में लागू किया गया था, और बाद के वर्षों में गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तराखण्ड के आठ जिलों में लागू किया। इस कार्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य मूल्यांकन में परिवर्तन की पैरवी करना और उसे प्रभावित करना था। ताकि उसके द्वारा कक्षा की सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं को भी प्रभावित किया जा सके। इस कार्यक्रम में शामिल स्कूलों का ऐसी पद्धति द्वारा मूल्यांकन करना था जिसका एक अंग ऐसे स्कूलों को 'पुरस्कार और मान्यता' प्रदान करना था जो मूल्यांकन की कसौटियों को पूरा करते थे (या उनसे आगे थे)। कसौटियों की तरह सार्वभौमिक शिक्षा की इन बुनियादी आवश्यकताओं को रखा गया थाः अ) स्कूलों को 100 प्रतिशत नामांकन सुनिश्चित करना था, ब) कम से कम 90 प्रतिशत बच्चों की नियमित उपस्थिति जरूरी थी, और स) कम से कम 60 प्रतिशत बच्चों को योग्यता–आधारित लिखित और मौखिक परीक्षाओं द्वारा किए गए मूल्यांकन में सीखने की समुचित उपलब्धियाँ दर्शाना थीं। सफल स्कूल वे थे जिन्होंने इन तीनों कसौटियों को पूरा किया। इस प्रकार लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम ने अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन को शोध और विश्लेषण के लिए आँकड़ों का समृद्ध भण्डार प्रदान किया।

कर्नाटक में लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम के लगातार वर्षों में ''सफल'' स्कूलों और ''अन्य स्कूलों'' का अध्ययन उन कारकों को समझने के लिए किया गया जो 'सफल स्कूलों' को 'अन्य स्कूलों' से अलग करते थे। उन कारकों को पहचानने के लिए भी किया गया जिनका 'सफलता' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अध्ययन में 240 स्कूल शामिल थे जिनमें लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम के अनुसार 68 को सफल माना गया। इसमें (प्रधान शिक्षकों सहित) 900 शिक्षकों से साक्षात्कार लिया गया जिनमें से 250 'सफल' स्कूलों के थे। स्कूलों का मूल्यांकन मात्रात्मक पैमानों के आधार पर किया गया था। जैसे कि स्कूल की अधोसंरचना, स्कूल का प्रबन्धन, उसमें भर्ती बच्चों की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि और ऐसे सामुदायिक कारक जैसे कि स्कूल डेवलपमेन्ट एण्ड मॉनीटरिंग कमेटी (एसडीएमसी) का काम और गाँव में सक्रिय गैर सरकारी संगठनों (एनजीओज़) की उपस्थिति।

> *''केवल थोड़े से स्कूल ही क्यों उन बाधाओं से पार पाने में सफल होते हैं जिनका सामना भारत के हमारे सभी स्कूलों को करना पड़ता है?... हमने स्पष्ट रूप से पाया कि प्रभावी स्कूल नेतृत्व और समर्पित तथा उत्साही शिक्षकों का दल अन्तर पैदा करने वाले प्रमुख कारक हैं।''*

इसी के समानान्तर 21 स्कूलों के एक नमूने का (जिसमें 11 'सफल' और 10 'अन्य' स्कूल थे) विस्तृत गुणात्मक अध्ययन किया गया। प्रशिक्षित जाँचकर्ताओं ने हर स्कूल में कुछ दिन बिताए जिसमें उन्होंने पालकों, बच्चों तथा समुदाय के अन्य लोगों से मुलाकातें और चर्चाएँ कीं तथा अपने अवलोकनों को दर्ज किया। गुणात्मक पैमानों में शिक्षकों का रवैया और समर्पण, शिक्षण की गुणवत्ता और कक्षा की पद्धतियाँ शामिल थीं।

इन अध्ययनों से मिली जानकारियाँ स्कूल नेतृत्व की अति महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करती हैं। वे दिखाती हैं कि कैसे अच्छा समर्पित नेतृत्व – अपनी मजबूरियों के बावजूद और बहुत ज्यादा बाहरी सहयोग के बिना – अपने स्कूलों का सक्षमतापूर्वक और आनन्दपूर्वक चलना सुनिश्चित कर सकता है। वे कुछ अद्भुत नहीं कर रहे होते। ये जानकारियाँ यह बताती हैं कि स्कूल का नेतृत्व कैसे सही बुनियादी बातों को पकड़ता है और साधारण कामों को निरन्तर अच्छी तरह करता है।

स. वे कारक जिनसे कोई फर्क नहीं पड़ता

एक हद तक यह खण्ड कुछ मिथ्या धारणाओं और कुछ रूमानी खयालों को खण्डित करता है। हममें से हरेक व्यक्ति किसी न किसी समय कुछ खास कारकों को बहुत महत्व देता है, लेकिन हमारे अध्ययन ने बहुत साफ तौर पर ऐसे कारकों को दर्शाया जिनसे कोई अन्तर पड़ता हुआ प्रतीत नहीं होता।

वे कारक जो 'सफल' और 'अन्य' स्कूलों में भेद पैदा नहीं करते

बुनियादी सुविधाएँ		प्रधान शिक्षक और शिक्षक का विवरण	
स्कूल से 0.5 किमी के भीतर बस आती है	X	लिंग	X
पक्का भवन	X	जाति/वर्ग	X
प्रांगण में आँगनवाड़ियों का होना	X	आयु	X
चहारदीवारी	X	कुल औसत अनुभव	X
बिजली	X	शिक्षा का स्तर	X
खेल का मैदान	X	उसी गाँव में निवास	X
कक्षाओं के कमरों की औसत संख्या	X	विवाहित	X

X = इस कारक से सफल और अन्य स्कूलों के बीच सांख्यिकीय रूप से कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं पड़ता।

1. बुनियादी सुविधाओं से सम्बन्धित सूचकांक

सांख्यिकीय दृष्टि से 'सफल' और 'अन्य' स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं के अनेक सूचकांकों के कारण कोई महत्वपूर्ण अन्तर प्रतीत नहीं होता, ये सूचकांक हैं: अ) पक्का भवन; ब) प्रांगण में आँगनवाड़ियों का होना; स) स्कूल के नजदीक यातायात सुविधा का होना; द) खेल के मैदान की सुविधाएँ; ई) चहारदीवारी; फ) कक्षाओं के कमरों की संख्या।

2. शिक्षक और प्रधान–शिक्षक का विवरण

एक सफल स्कूल का आम शिक्षक अन्य स्कूलों के आम शिक्षक जैसा ही होता है। इसलिए दोनों श्रेणियों में शिक्षकों की जाति, लिंग, आयु, शैक्षणिक योग्यताएँ और कार्य का अनुभव सांख्यिकीय दृष्टि से बहुत भिन्न नहीं होते। एक अन्य मजबूत धारणा – कि यदि शिक्षक उसी गाँव का है या वहीं रहता है तो इसका स्कूल पर सकारात्मक असर पड़ेगा – भी गलत साबित हुई। अध्ययन से पता चला कि 'सफल' और 'अन्य' दोनों ही तरह के स्कूलों के 31 प्रतिशत शिक्षक उसी गाँव में रहते थे। जबकि दोनों के 69 प्रतिशत शिक्षक कुछ दूरी तय करके रोज स्कूल पहुँचते थे। बहुत साफ है कि शिक्षकों की पृष्ठभूमि किसी भी तरह से स्कूल की सफलता को प्रभावित करती नहीं जान पड़ती। इस प्रकार, अनेक बुनियादी सुविधाओं और शिक्षक समुदाय से सम्बन्धित मापदण्डों का सीखने की उपलब्धियों पर कोई बड़ा असर नहीं पड़ता, और 'सफल' तथा 'अन्य' स्कूलों के बीच इनमें बहुत अन्तर नहीं था।

3. बहु–ग्रेड शिक्षण

हमारे सभी ग्रामीण प्राथमिक स्कूलों में से 80 प्रतिशत बहु–ग्रेड स्कूल हैं। हमारे अध्ययन में भी हमने पाया कि 'सफल' तथा 'अन्य', दोनों श्रेणियों के स्कूलों में बहु–ग्रेड स्कूलों का प्रतिशत समान रूप से ऊँचा था (लगभग 80 प्रतिशत)।

द. वे कारक जिनसे अन्तर पड़ता

हमने स्पष्ट रूप से पाया कि प्रभावी स्कूल नेतृत्व और समर्पित तथा उत्साही शिक्षकों का दल अन्तर पैदा करने वाले प्रमुख कारक हैं। ये खरे गुण 'सफल' स्कूलों के साफ दिखने वाले लक्षण हैं और इसके एकदम विपरीत 'अन्य' स्कूलों में ये नदारद हैं। वे कौन से सूचकांक हैं जो हमें यह निष्कर्ष निकालने पर मजबूर करते हैं?

वे कारक जो 'सफल' और 'अन्य' स्कूलों में अन्तर पैदा करते हैं

स्कूल की विशेषताएँ		शिक्षकों का अतिरिक्त प्रयास	
स्कूल का अच्छा दिखना	✓	चिह्नित बच्चों के लिए अतिरिक्त कक्षाएँ	✓
पीने के पानी की उपलब्धता	✓	गतिविधि–आधारित सीखना	✓
बच्चों के लिए उपयोग किए जा सकने वाले शौचालय	✓	अतिरिक्त पढ़ने की सामग्री	✓
प्रधान शिक्षक उपस्थित	✓	प्रश्नपत्रों द्वारा अभ्यास और पुनर्अभ्यास	✓
विद्यार्थियों और शिक्षकों के ताजा तारीख तक भरे हुए रजिस्टर	✓	शिक्षण के अन्य तरीके	✓
शिक्षक और प्रधान शिक्षक की समय की पाबन्दी	✓	**पालकों, एसडीएमसी और समुदाय का सहयोग**	
कक्षाओं में अध्ययन–अध्यापन की सामग्री	✓	दाखिलों और उपस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना	✓
स्कूल में प्रधान शिक्षक के अनुभव की अवधि	✓	स्कूल को दान	✓
		स्कूल में सक्रिय भागीदारी	✓

✓ = इस कारक से सफल और अन्य स्कूलों में सांख्यिकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्तर पड़ता है।

1. समय के पाबन्द और हमेशा उपस्थित प्रधान शिक्षक तथा शिक्षक

यह अन्तर पैदा करने वाला सर्वोपरि कारक है। सफल स्कूलों में दिखने वाले बाद के सभी अच्छे प्रचलन और भेद इसी विशेष पहलू से निकलते हैं। सफल स्कूलों में सभी प्रधान शिक्षक और 90 प्रतिशत से भी अधिक शिक्षक समय के पाबन्द होते हैं। इसके अलावा स्कूल के समय के दौरान 'सफल' स्कूलों के 92 प्रतिशत से भी अधिक प्रधान शिक्षक स्कूल में मौजूद रहते हैं। इसके विपरीत, 'अन्य' स्कूलों के केवल 73 प्रतिशत प्रधान शिक्षक स्कूल के समय के दौरान स्कूल में पाए जाते हैं। सफल स्कूलों में शिक्षकों की 90 प्रतिशत से अधिक समय की पाबन्दी और उपस्थिति का अवलोकन प्रोब 1 तथा प्रोब 2 की रिपोर्टों तथा माइकल क्रेमर एवं कार्तिक मुरलीधरन द्वारा किए गए अध्ययन ''टीचर एबसैंस इन इण्डिया'' (भारत में शिक्षकों की अनुपस्थिति) के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण है, जो दर्शाता है कि भारतीय सरकारी स्कूलों में औसतन 25 प्रतिशत शिक्षक अनुपस्थित रहते हैं।

2. व्यवस्थित, सुप्रबन्धित स्कूल पद्धतियाँ

सफल स्कूलों में अच्छे से तेल दी गई मशीन जैसी कार्यक्षमता दिखाई देती है। स्वच्छता, सुगढ़ता और व्यवस्था की दृष्टि से ये स्कूल बेहतर होते हैं। उनमें एक दैनिक प्रातः सभा होती है, जो चुस्त और समय पर होती है। सभी रिकॉर्ड पुस्तिकाएँ – शिक्षक उपस्थिति, छात्र उपस्थिति, दाखिलों के रजिस्टर, सूचना–पटल, कक्षाओं की समय–सारणियाँ आदि – ताजा तारीख तक भरी हुई और ठीक से रखी गई होती हैं। विद्यार्थियों सम्बन्धी आँकड़े तुरन्त उपलब्ध रहते हैं। स्कूल की यूनिफॉर्म, स्टेशनरी और पाठ्यपुस्तकें शैक्षणिक सत्र की शुरुआत में बिना देरी किए सभी विद्यार्थियों को उपलब्ध करा दी गई होती हैं। मध्यान्ह भोजन व्यवस्थित और बिना किसी हड़बड़ी के आयोजित होता है। इन स्कूलों में विद्यार्थियों के बीच साफ तौर पर झगड़े नहीं दिखाई देते। साथ ही उन्हें शारीरिक दण्ड दिया जाना भी स्पष्ट रूप से काफी कम पाया जाता है। स्कूल के पहले और स्कूल के बाद दिन की योजनाओं पर चर्चा और पुनरावलोकन करने के लिए रोज शिक्षकों की नियोजित बैठक होती है।

3. शिक्षकों का समर्पण – आवश्यक से अधिक प्रयास

हमारे शोध ने दर्शाया कि 'सफल' स्कूल बच्चों को अतिरिक्त सहायता देने के लिए साफ नजर आने वाले प्रयास करते थे। ये प्रयास बहुत सघनता से किए जाते थे, और ऐसे कई स्कूलों ने छुट्टी के दिनों में और स्कूल के समय के बाद अतिरिक्त कक्षाएँ लेने का उल्लेख किया। कई स्कूलों ने तुलनात्मक रूप से 'कमजोर' बच्चों को चिह्नित किया और उन्हें विशेष रूप से सहायता प्रदान की। उन्होंने बच्चों को पढ़ने की अतिरिक्त सामग्री प्रदान की। उन्होंने मॉडल प्रश्नपत्र बनाए और बच्चों को उनकी ''ड्रिल एण्ड प्रैक्टिस'' (बार–बार अभ्यास) करवाई। ये सारे उपाय यांत्रिक प्रतीत हो सकते हैं लेकिन वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में वे महत्वपूर्ण सकारात्मक उपायों की तरह देखे गए।

4. पालकों तथा स्कूल डेवलपमेन्ट एण्ड मॉनीटरिंग कमेटी (एसडीएमसी) का सहयोग

सफल स्कूलों में एसडीएमसी के सदस्यों और अध्यक्ष का सहयोग अधिक था। यह सहयोग उपस्थिति बढ़ाने, सीखने की सामग्री की आपूर्ति करने, बुनियादी सुविधाएँ प्रदान करने, दाखिलों में सुधार करने और स्कूलों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के रूप में था। इन सफल स्कूलों में बच्चों की प्रगति पर नजर रखने और शिक्षकों

के साथ चर्चा करने के लिए 73 प्रतिशत पालक नियमित रूप से स्कूल आते रहते थे। 'अन्य' स्कूलों की श्रेणी में पालकों में शिक्षा का अभाव अधिक था; उनमें आधे से अधिक अशिक्षित थे। जहाँ अन्य स्कूलों के 54.7 प्रतिशत पालकों ने कोई औपचारिक शिक्षा नहीं पाई थी, वहीं सफल स्कूलों में ऐसे पालक 41.7 प्रतिशत ही थे।

5. अति महत्वपूर्ण छात्र–शिक्षक अनुपात

लर्निंग गारण्टी कार्यक्रम से प्राप्त प्रायोगिक साक्ष्य छात्र–शिक्षक अनुपात (प्यूपिल–टीचर रेशियो – पीटीआर) की बेहद महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करते हैं। जिन स्कूलों में पीटीआर 30 से कम होता है उनके अच्छा प्रदर्शन करने की सम्भावना 25 प्रतिशत होती है। दूसरी ओर, 40 से अधिक पीटीआर वाले स्कूलों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की सम्भावना 3 प्रतिशत से भी कम होती है। यह सचमुच में शायद ऐसा अकेला कारक है जो शिक्षक के नियंत्रण और दायरे के बाहर होता है। यहाँ दिया गया रेखाचित्र इस पहलू को दर्शाता है।

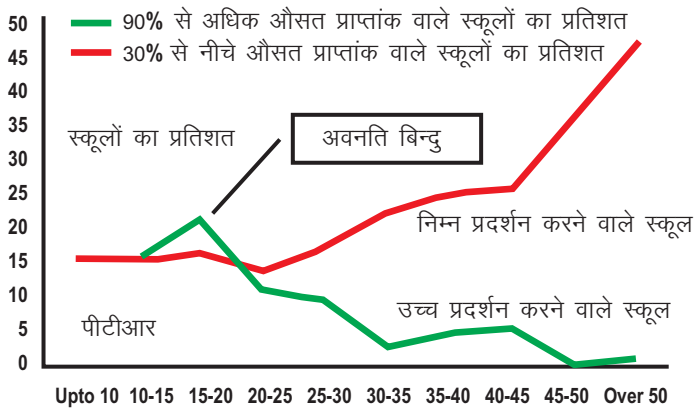

गुणवत्ता के अध्ययन से मिली जानकारियाँ मात्रात्मक आँकड़ों की पुष्टि करती हैं। 11 अन्य स्कूलों की तुलना में 10 सफल स्कूलों में से अधिकांश में योग्यता बढ़ाने वाला और सहयोगात्मक वातावरण दिखाई दिया।

गुणात्मक अध्ययन से प्राप्त जानकारियाँ

21 स्कूलों में गुणात्मक अध्ययन	मानदण्ड	सफल स्कूल	अन्य स्कूल
प्रधान शिक्षक	प्रधान शिक्षक का समय पर आना	10/10	7/11
	स्कूल की गतिविधियों का सक्रिय पर्यवेक्षण	8/10	5/11
	स्कूल में अतिरिक्त समय देना	5/10	2/11
	सभी विद्यार्थियों को पुस्तकें और आवश्यक स्टेशनरी सुलभ कराना	10/10	4/11
शिक्षक	शिक्षकों द्वारा समय की पाबन्दी का पालन	9/10	1/11
	पारस्परिक सक्रियता वाले कक्षा सत्र	10/10	6/11
	सभी कक्षाओं के लिए कार्ययोजनाएँ	5/10	3/11
	सभी कक्षाओं में अध्ययन–अध्यापन की सामग्री का उपयोग	5/10	0/11
	सभी कक्षाओं में गतिविधि–आधारित सत्र (अध्ययन–अध्यापन सामग्री के साथ या उसके बगैर)	7/10	3/11
	सभी कक्षाओं में गृहकार्य को नियमित रूप से जाँचना	8/10	3/11
	विशेष कक्षाएँ होना	8/10	4/11
	कोई शारीरिक दण्ड नहीं	7/10	3/11
	सभी विद्यार्थियों का समय पर आना	5/10	1/11
	विद्यार्थियों के बीच गम्भीर झगड़ों का न होना	8/10	4/11
पालक और समुदाय सहयोग (एसडीएमसी)	एसडीएमसी के द्वारा 3 दिन में एक बार स्कूल का भ्रमण	10/10	4/11
	प्रधानशिक्षक/शिक्षकों के द्वारा एसडीएमसी के बारे में सकारात्मक राय	10/10	4/11

ई. स्कूल नेतृत्व गुणवत्ता की धुरी है

ऐसे लगभग सभी कारक जो 'सफल' स्कूलों को 'अन्य' स्कूलों से अलग करते हैं, स्कूल प्रमुख द्वारा निर्मित, प्रभावित और संचालित किए जा सकते हैं। इस अर्थ में प्रधान शिक्षक अपने स्कूल की गुणवत्ता स्थापित करने में धुरी जैसी कार्यकारी भूमिका निभाता है। निचले प्राथमिक स्कूलों में अकसर कोई एक शिक्षक ही प्रधान शिक्षक का अतिरिक्त दायित्व ले लेता है। पर, उच्च–प्राथमिक स्कूलों में कम से कम सात शिक्षकों को नेतृत्व और मार्गदर्शन प्रदान करने, भूमिकाएँ निर्धारित करने, समय–सारणियाँ तय करने, प्रशासकीय प्रबन्धन और समूह गतिकी को दिशा देने, प्रदर्शन का पुनरीक्षण करने, मुद्दों को चिह्नित करने और निर्णय लेने तथा एक बड़े शैक्षणिक प्रांगण का पर्यवेक्षण और प्रशासन करने के लिए एक पदेन प्रधान शिक्षक होता है।

यह एक अत्यन्त ही विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि ऐसे जटिल कार्य के लिए करीब–करीब किसी भी प्रधान शिक्षक को प्रशिक्षित नहीं किया गया है। स्कूल का नेतृत्व करने के लिए वे या तो नामांकित किए जाते हैं या चुन लिए जाते हैं और वाकई में काम करते हुए ही सीखने और इस जटिल स्थिति को सम्हालने के लिए उसमें धकेल दिए जाते हैं। ये 10 प्रतिशत स्कूल जो अभी 'सफल' हैं, तो इसलिए हैं कि उनके स्कूल–प्रमुख उपयुक्त तैयारी और प्रशिक्षण के बिना भी अच्छा प्रदर्शन कर पाए हैं। यदि हमारी शिक्षा व्यवस्था में प्रधान शिक्षकों को चुनने के लिए एक सुविचारित प्रक्रिया होती और उन्हें प्रशिक्षित करने, उनका मार्गदर्शन करने और सहारा देने के लिए एक सशक्त नेतृत्व विकास कार्यक्रम होता तो अवश्य ही यह आशा की जा सकती थी कि 'अन्य स्कूलों' में से भी अनेक रूपान्तरित होकर 'सफल स्कूल' बन जाते।

डी. डी. करोपाडी अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन , बंगलौर में रिसर्च और डॉक्यूमेन्टेशन के प्रमुख हैं। इससे पूर्व वे भारत की एक अग्रणी बाजार–शोध संस्था के बाजार–शोध निदेशक रहे हैं। 25 साल के कॉर्पोरेट अनुभव के साथ, अब वे पिछले 8 वर्षों से विकास के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। उनसे karopady@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

एस. गिरिधर अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, बंगलौर के विश्वविद्यालय संसाधन केन्द्र के प्रमुख हैं। उनसे giri@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

एक सुबह एक माँ अपने बेटे को जगाने गई। उनके बीच कुछ इस तरह से संवाद हुआ–

माँ : उठो बेटा, तुम्हारे स्कूल जाने का समय हो गया है।

बेटा : नहीं माँ मैं स्कूल नहीं जाना चाहता हूँ।

माँ : पर तुम स्कूल क्यों नहीं जाना चाहते हो? कोई दो कारण बताओ।

बेटा : पहली बात कि न तो मुझे बच्चे पसन्द करते हैं और न ही शिक्षक।

माँ : ये तो कोई कारण नहीं हुए। उठो...उठो...और स्कूल जाओ।

बेटा : अच्छा आप मुझे कोई दो ऐसे कारण बताइए जिनके लिए मुझे स्कूल जाना चाहिए ?

माँ : पहली बात तो यह कि तुम 52 साल के हो गए हो। तुम्हें अपनी जिम्मेदारी खुद समझनी चाहिए। और दूसरी बात यह कि तुम स्कूल के प्रिंसिपल हो!

17 शिक्षा में संस्थागत संस्कृति – कर्नाटक के शैक्षणिक नेतृत्व विकास कार्यक्रम से कुछ सबक

सुपर्णा दिवाकर

विभिन्न नीति–दस्तावेजों में शिक्षा के उद्देश्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है: सभी बच्चों को अच्छी गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करना; बच्चों को भारत के लोकतान्त्रिक ढाँचे में सक्रियता से और जिम्मेदारी के साथ भाग लेने के लिए तैयार करना; जानकारी पर आधारित विकल्प चुनने में उन्हें सक्षम बनाना; विकास और वृद्धि के अवसरों का लाभ उठा सकने में सक्षम बनाना; और अर्थपूर्ण गरिमामय जीवन जीने में समर्थ बनाना।

निष्पक्षता और भेदभावरहित समानता हमेशा इन सभी उद्देश्यों का अन्तर्निहित अंग रही है। देश भर की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के पास कार्यनिर्देश है कि प्रत्येक बच्चे के लिए वे अनुभव उपलब्ध करवाए जाएँ जिनका होना इन उद्देश्यों को हासिल करने के लिए आवश्यक है। यह कार्य विशेष तौर से स्कूली व्यवस्था के ढाँचे के माध्यम से किया जाना अपेक्षित है। छह दशकों से भी अधिक समय से हम यह प्रयास कर रहे हैं और अभी भी निर्धारित उद्देश्यों को हासिल करने से बहुत दूर हैं।

पिछले दो दशकों में शिक्षा का परिदृश्य तेजी से बदलता रहा है – आज हमारे पास *शिक्षा का अधिकार* है। शायद इससे भी महत्वपूर्ण बात है कि विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में जनसमुदाय की अपने बच्चों के लिए शिक्षा से अभिलाषाओं में बढ़ोतरी ही नहीं हुई, वह इन्हें पहले से अधिक जोर–शोर के साथ व्यक्त भी करने लगा है। हमने काफी प्रगति की है, फिर भी उद्देश्यों की ओर तेजी से बढ़ने के लिए हमारे प्रयासों की गति और गुणवत्ता, दोनों को बदलने की जरूरत है। अनेक शोध अध्ययन, परियोजनाएँ और कार्यक्रम यह ज्यादा प्रभावशाली तरीकों से करने के रास्ते तलाश रहे हैं। इनमें से कई यह दर्शाते हैं कि सफलता सम्भव है। पर इन्हें उपयुक्त तरीकों से एक विशेष पैमाने पर करना एक चुनौती रही है और उसके लिए एक अलग चर्चा की जरूरत है।

यह आलेख कर्नाटक में पिछले तीन वर्षों में लागू किए गए शैक्षणिक नेतृत्व विकास कार्यक्रम (एजुकेशन लीडरशिप डेवलपमेन्ट प्रोग्राम – ई.एल.डी.पी.) में हुए अनुभवों के आधार पर संस्थागत संस्कृति के आयाम को टटोलने की कोशिश करता है। यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसकी कल्पना, संरचना और लागू करने का काम कर्नाटक के सार्वजनिक शिक्षा आयुक्त के कार्यालय में सर्वशिक्षा अभियान सम्बन्धी नीति नियोजन इकाई (पॉलिसी प्लैनिंग यूनिट – पी.पी.यू.) तथा सेन्टर फॉर लीडरशिप एण्ड मैनेजमेंट इन पब्लिक सर्विसिज़ (सी.एल.ए.एम.पी.एस.) द्वारा किया गया है। इस कार्यक्रम को अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, यूनिसेफ तथा वर्ल्ड बैंक का सहयोग मिला है।

संक्षेप में, ई.एल.डी.पी. ने शिक्षा विभाग के उन कर्मचारियों की नेतृत्व एवं प्रबन्धन क्षमताओं को संवर्धित करने का प्रयास किया है जो स्कूल के सबसे नजदीक होते हैं। 'क्रमिक जलप्रपातीय मॉडल' के तहत इसके लिए सार्वजनिक शिक्षा विभाग के भीतर ही प्रबन्धन विकास सहयोगी (मैनेजमेंट डेवलपमेन्ट फैसीलिटेटर्स – एम.डी.एफ.) विकसित किए गए। फिर, इसके बाद के क्रम में इन प्रबन्धन विकास सहयोगियों ने 20 जिलों में ब्लॉक संसाधन व्यक्तियों (ब्लॉक रिसोर्स पर्सन्स – बी.आर.पीज़) और संकुल संसाधन व्यक्तियों (क्लस्टर रिसोर्स पर्सन्स – सी.आर.पीज़) को प्रशिक्षित किया। बी.आर.पीज़ और सी.आर.पीज़ ब्लॉक तथा क्लस्टर (क्लस्टर या संकुल 15–20 स्कूलों का समूह होता है) स्तर पर नियुक्त संसाधन व्यक्ति होते हैं। शिक्षा व्यवस्था के विकेन्द्रित ढाँचे में स्कूलों को शैक्षणिक और प्रशासनिक सहयोग प्रदान करने की महत्वपूर्ण भूमिका इन संसाधन व्यक्तियों की ही होती है।

प्रबन्धन विकास सहयोगी लगभग पाँच माह तक चलने वाले विकास कार्यक्रम से गुजरे हैं जिसमें जानकारी प्रदान करने के सत्र (इनपुट सैशन्स), क्षेत्र में काम करने के अवसर, पुनरावलोकन और चिन्तन शामिल हैं। अगले चरण में प्रबन्धन विकास सहयोगियों द्वारा ऐसा ही अनुभव बी.आर.पीज़. तथा सी.आर.पीज़. के लिए सम्भव बनाया गया है। इस अनुभव के तहत उन्होंने 17 सप्ताह की अवधि में अपनी भूमिका के अन्तर्गत, अपने प्रभावक्षेत्र में, गुणवत्ता सुधार परियोजनाएँ (क्वालिटी इम्प्रूवमेन्ट प्रोजेक्ट्स्) लागू की हैं।

प्रबन्धन विकास कार्यक्रम और गुणवत्ता सुधार परियोजनाओं ने एक ऐसा ढाँचा दिया जिसने सी.आर.पीज़. और बी.आर.पीज़. के लिए

> *पिछले तीन वर्षों में इस व्यवस्था के साथ निकट से काम करने में यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि इन मुद्दों में से अनेक की जड़ें उस संस्कृति में हैं जिसके तहत यह विभाग और व्यवस्था चलते हैं। उदाहरण के लिए, इस व्यवस्था में विकेन्द्रीत संस्थाएँ हैं जो समय बीतने के साथ मोटे तौर से राज्य–स्तर पर कल्पित निर्णयों और कार्यक्रमों को लागू करने वाली संस्थाएँ बन गई हैं।*

गुंजाइश छोड़ी कि वे शिक्षा–प्रक्रिया को अनुप्राणित करने वाली आधार–कल्पना तथा मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में मौजूदा प्रक्रियाओं की पड़ताल कर सकें और समस्याओं को चिह्नित कर सकें। उसके बाद उन्होंने सम्बन्धित भागीदारों/हितधारकों (स्टेकहोल्डर्स) की सहभागिता के साथ प्रक्रिया में सुधार के विकल्पों और समाधानों की पड़ताल की। इस पद्धति से उभरने वाले स्वामित्व की मजबूत भावना, जिम्मेदारी और पारस्परिक जवाबदेही ने परिवर्तन के लिए निरन्तर जारी रह सकने वाले उपायों को लागू करना सम्भव बनाया है। इस प्रक्रिया में बने या सशक्त हुए सम्बन्धों ने बेहतर सम्प्रेषण, समझ और पारस्परिक भरोसे का माहौल तैयार किया है। यह सहकर्मी सी.आर.पीज़ और बी.आर.पीज़ के साथ–साथ स्कूल स्तर पर प्रधान–शिक्षकों और शिक्षकों के मामले में भी हुआ है।

इस ढाँचे ने पुनरावलोकन, चिन्तन और साथियों से सीखने के लिए व्यवस्थित अवसर प्रदान किए। निन्दा के भय से आजाद रहते हुए असफल प्रयासों के बारे में परस्पर बात कर पाने के फलस्वरूप न केवल सम्बन्धित सी.आर.पी. या बी.आर.पी. को, बल्कि उसके सहयोगियों को भी सीखने का अवसर मिला। इस ढाँचे ने सी.आर.पीज़ और बी.आर.पीज़ को असफलता के भय के बिना नए तरीके खोजने और जानकारी के आधार पर नपे–तुले जोखिम उठाने की 'स्वतन्त्रता दी'। सहयोगियों से सीखने के इन व्यवस्थित अवसरों ने उनके बीच भरोसा बनाया। सी.आर.पीज़ और बी.आर.पीज़ के बीच आपस में और स्कूलों के साथ, सहयोग से होने वाले कार्य प्रोजेक्ट की अवधि के बाद भी चलते रहे हैं।

इस कार्यक्रम का जोर व्यक्तिगत रूपान्तरण पर था, लेकिन गुणवत्ता सुधार परियोजनाओं ने छोटे–छोटे मगर महत्वपूर्ण तरीकों से सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू कर दी है। और ये तरीके दोहराए जाने की सम्भावना भी मौजूद है, यानी इन्हें बार–बार किया जा सकता है। जैसा डेमिंग ने कहा था, "व्यक्तिगत रूपान्तरण के बिना कुछ भी नहीं बदलता।"

संस्कृति या आचार–विचार मूल्यों, विश्वासों, मानकों, परम्पराओं, रीतियों, मान्यताओं, आदि का ऐसा संग्रह है जिसे किसी संगठन या संस्था द्वारा धीरे–धीरे एक लम्बी अवधि में निर्मित किया जाता है। विशेष रूप से शिक्षा के सन्दर्भ में, उद्देश्य तथा मूल्यों की साझा समझ, निरन्तर सीखने और स्कूल सुधार के लिए मानक, बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी, और व्यवस्था के भीतर की संस्थाओं तथा काम करने वालों के बीच सहयोगात्मक और सहकर्मी भावना के सम्बन्ध संस्कृति या आचार–विचार में शामिल होंगे। न्यूयॉर्क के एक स्कूल के प्रधानाचार्य जॉन कैपोज़ी ने संस्कृति को "छिपा हुआ पाठ्यक्रम" कहा है। संस्कृति या आचार–विचार का प्रभाव काम करने वालों के उत्साह पर पड़ता है, और उत्पादक क्षमता तथा चिन्तनशील व्यवहार (सतत सुधार) पर भी। शोध से प्रकट होता है कि किसी जिले में स्कूलों की संस्कृतियों तथा संस्थाओं के बीच सम्बन्धों के स्वरूप भी स्कूल के प्रदर्शन तथा उसके विकास पर प्रभाव डालते हैं।

शिक्षा विभाग विशाल जनादेश वाला एक ऐसा विराट संगठन है जिसे आन्तरिक और बाहरी, दोनों ओर से खींचतान और दबावों का सामना करना पड़ता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं, इसमें भी वे बुराइयाँ हैं जो हमारी सभी सार्वजनिक व्यवस्थाओं में हैं। फिर भी, पिछले तीन वर्षों में इस व्यवस्था के साथ निकट से काम करने में यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि इन मुद्दों में से अनेक की जड़ें उस संस्कृति में हैं जिसके तहत यह विभाग और व्यवस्था चलते हैं। उदाहरण के लिए, इस व्यवस्था में विकेन्द्रीकृत संस्थाएँ हैं जो समय बीतने के साथ मोटे तौर से राज्य–स्तर पर कल्पित निर्णयों और कार्यक्रमों को लागू करने वाली संस्थाएँ बन गई हैं। इस बात का अहसास व्यवस्था में कार्यरत और उसके साथ काम करने वाले सभी लोगों को है। इसका एक कारण शायद संगठनों के प्रबन्धन में शामिल 'नियन्त्रण' का आयाम है। और किस तरह कोई ऐसे संगठन को नियन्त्रित कर सकता है जिसमें तीन लाख से ऊपर शिक्षक, 50,000 से अधिक स्कूल, और 8,000 अन्य कर्मचारी हैं?

> *यदि शिक्षा के उद्देश्य हासिल करने हैं तो सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के भीतर हमें किस प्रकार की संस्कृति, कैसा आचार–विचार चाहिए? यदि हम शिक्षा विभाग को कई संस्थाओं से मिलकर बना विभाग मानें तो इनमें से प्रत्येक संस्था में कैसी संस्कृति होनी चाहिए जो हमें शिक्षा की हमारी कल्पना की ओर बढ़ने में मदद करे?*

इससे एक प्रश्न खड़ा होता है – यदि शिक्षा के उद्देश्य हासिल करने हैं तो सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के भीतर हमें किस प्रकार की संस्कृति, कैसा आचार–विचार चाहिए? यदि हम शिक्षा विभाग को कई संस्थाओं से मिलकर बना विभाग मानें तो इनमें से प्रत्येक संस्था में कैसी संस्कृति होनी चाहिए जो हमें शिक्षा की हमारी कल्पना की ओर बढ़ने में मदद करे? इनमें से प्रत्येक संस्था को ऐसी संस्कृति निर्मित करने और उसे पोषित करने की जरूरत है जो शिक्षा के उद्देश्यों को हासिल करने में सहयोगी हो। इसका अर्थ है कि यदि बच्चे को बड़े होकर देश की राज्य–व्यवस्था में सक्रिय और जानकार भागीदार बनना है, और गरिमापूर्ण जीवन बिताना है, तो उसे अपने स्कूल और समुदाय में उस समाज के सूक्ष्म प्रतिरूप का अनुभव होना जरूरी है। इसलिए यह अनिवार्य हो जाता है कि स्कूल

उसे ऐसे अनुभव के लिए आवश्यक ढाँचे और अवसर प्रदान करे। आवश्यक है कि स्कूल को मदद देने वाली संस्थाएँ, अर्थात वे सभी ढाँचे जो पदानुक्रम के अनुसार स्कूल से ऊपर स्थित हैं, शिक्षा की इस कल्पना के साथ, और उसका साकार होना सम्भव बनाने वाले मूल्यों के साथ तारतम्य में हों। साथ ही, उन्हें उस कल्पना को साकार करने के लिए जरूरी व्यवस्थाएँ और प्रक्रियाएँ निर्मित करना होंगी। आखिरकार, शिक्षा को लोक निर्माण विभाग से भिन्न प्रकार की संस्थागत संस्कृति की आवश्यकता होती है।

बहुत सम्भव है कि प्रभावी प्रदर्शन के लिए नियन्त्रण और आज्ञा–पालन पर भरोसा करने वाला शैक्षणिक संस्थान शिक्षा के अपने उद्देश्य को हासिल न कर पाए, क्योंकि शिक्षा का प्रयोजन अन्वेषण, समीक्षात्मक सोच, नए तरीकों और सृजनात्मकता से है, और इन सभी के लिए काफी लचीलेपन और जोखिम उठाने की आवश्यकता होती है। गैर–लचीले नियम (या ऐसे नियम जिनकी व्याख्या इस रूप में की जाती है) नवीनता और सृजनात्मकता को बाधित करते हैं। उदाहरण के लिए, एक सी.आर.पी. खोज करके अपने क्लस्टर की समस्याओं के नए और उपयुक्त समाधान ढूँढ़ सकती है, बशर्ते कि उसे लगे कि उसे ऐसा करने की छूट है। इसके लिए एक हद तक के भरोसे और साझा उद्देश्य पर आधारित मजबूत सम्बन्धों की जरूरत होती है; जाँच–पड़ताल की, और शायद गलतियाँ करने तथा सीखने की भी आजादी की जरूरत होती है। वह जिस प्रकार का सहयोग स्कूलों के साथ कर सकती है, और जिस प्रकार के सम्बन्ध वह स्कूल या समुदाय के साथ बना सकती है, उनसे जीवन्त और सक्रिय संस्कृतियाँ निर्मित करना सम्भव होगा। लेकिन यदि उसे मामूली कामों के लिए इधर से उधर दौड़–भाग करना पड़ती है, जैसा आज हो रहा है, तो उसका दिल और दिमाग उनमें नहीं लगता। विभाग के कुछ शिक्षाकर्मियों ने एक खुली चर्चा के दौरान इस बात को साफ तौर पर अभिव्यक्त किया कि विभाग उन्हें अपने हाथ–पैर समझता है, न कि दिल और दिमाग वाले व्यक्ति। ई.एल.डी.पी. में हमारा अनुभव यह रहा है कि जमीन से जुड़े शिक्षाकर्मियों को अपने स्तर के मुद्दों की गहरी समझ होती है और वे परिवर्तन के लिए आवश्यक संसाधन जुटाने में सक्षम होते हैं।

संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच सहयोग की संस्कृति के चलते ऐसे संसाधनों को इकट्ठा करना सम्भव हो पाता है जो मुद्दों और चिन्ताओं के उपयुक्त समाधान ढूँढ़ने में सहायक हों, स्थानीय स्तर पर विश्लेषण के आधार पर सुधारों की योजनाएँ बनाने में मददगार हों। इससे योजनाओं को शिक्षाकर्मियों के बीच साझा जिम्मेदारी, अधिकार और जवाबदेही के साथ लागू करना भी सम्भव हो पाता है। जिस स्तर पर सुधार किए जाने हैं उस स्तर पर कुछ जोखिम उठाए बगैर, और सभी सम्बन्धित संस्थाओं के सहयोग के बिना, बेहतरी सम्भव नहीं है। ई.एल.डी.पी. के अनुभव ने एक छोटे लेकिन महत्वपूर्ण ढंग से हमारी जान–पहचान जमीनी स्तर की कुछ सम्भावनाओं से करवाई है।

निश्चित ही, सुधारों को बनाए रखने के लिए व्यवस्थागत सहयोग आवश्यक होता है। यहाँ चुनौती केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच सन्तुलन बनाने की है मगर इसके लिए कोई स्पष्ट उत्तर नहीं हैं।

सुपर्णा दिवाकर दो दशकों से भी अधिक समय से गैर सरकारी क्षेत्र में काम कर रही हैं। वे अदम्य चेतना और सैन्टर फॉर लीडरशिप एण्ड मैनेजमेन्ट इन पब्लिक सर्विसिज़, बंगलौर की संस्थापक सदस्य हैं। वर्तमान में इस सैन्टर में एजुकेशन लीडरशिप एण्ड मैनेजमेन्ट प्रोजेक्ट्स् की प्रोजेक्ट लीडर हैं। पिछले चार वर्षों से कर्नाटक में लागू किए जा रहे शिक्षा नेतृत्व विकास कार्यक्रम से वे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। सार्वजनिक सेवाओं के जनादेश में और भारत में समाज के रूपान्तरण में इन सेवाओं की भूमिका में उनका दृढ़ विश्वास है। उनसे suparna@c-lamps.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।

18

कुछ नहीं से कुछ होने तक

एक गाँव के प्राथमिक स्कूल के पालक समूह के साथ यात्रा

उमाशंकर पेरियोडी

ब्रम्हाराकुटलू उच्चतर प्राथमिक स्कूल सभी कसौटियों पर एक औसत से निचले स्तर का स्कूल था। शिक्षा विभाग उसे पहले ही एक 'निम्न उपलब्धि वाला' स्कूल करार दे चुका था। काल्लिगे और थुम्बे गाँव के पालक इस स्थिति से परिचित थे क्योंकि जब वे अपने बच्चों को पास के हाईस्कूलों में दाखिल करवाने का दुस्साहस करते थे तो उन्हें हाईस्कूलों के शिक्षकों के अपमानजनक ताने सुनने पड़ते थे। आमतौर पर यह हल्की–फुल्की दुत्कार होती थी– जैसे, "हमारी सीटें भर गई हैं, हम और लोग नहीं ले सकते"; "हम ब्रम्हाराकुटलू स्कूल के बच्चों को भर्ती नहीं करते"; या, "हम ब्रम्हाराकुटलू स्कूल के बच्चों के पास होने की गारण्टी नहीं लेते'' आदि। यह हालत 1983 में थी जब मुझसे स्कूल सुधार समिति का सदस्य बनने के लिए कहा गया। मैंने इस भूमिका को बहुत गम्भीरता से लिया और बहुत उत्साहपूर्वक समिति में शामिल हुआ। उन शुरुआती दिनों की ओर मुड़कर देखने पर मुझे अहसास होता है कि हमारे क्षेत्र की कुछ प्रसिद्ध सुधार समितियों की तुलना में हमारी समिति बहुत हल्की थी। शिक्षकगण बैठक बुलाते थे और कुछ सहायता माँगते थे, तो हमारे अध्यक्ष, जो एक सशक्त शख्सीयत के मालिक थे, 'हाँ' या 'नहीं' कह देते थे और बात वहीं समाप्त हो जाती थी। हम सब तो बस अध्यक्ष या प्रधान शिक्षक जो भी कहते, उस पर सिर हिलाने वाले सदस्य भर थे।

फिर 1998 में हमारे गाँव के उसी स्कूल में मेरी बेटी ने दाखिला लिया। यही वह समय भी था जब स्कूल डेवलपमेन्ट एण्ड मॉनीटरिंग कमिटी (स्कूल विकास एवं निगरानी समिति – एस.डी.एम.सी.) की शुरुआत हुई और पालक समुदाय को बहुत शक्तियाँ मिलीं। एस.डी.एम.सी. के सदस्य स्कूल में पढ़ रहे बच्चों के पालकों में से ही चुने गए थे। मगर शक्तिविहीन लोग इन पदों को सम्भालने में हिचकिचा रहे थे। मैंने पाया कि इस मामले को शिक्षक भी ठीक से नहीं समझ रहे थे। इस स्थिति में मेरी पत्नी वाणी और मैंने अपने लोगों के साथ काम करना शुरू किया। हमने इस मुद्दे के बारे में बात करना प्रारम्भ किया और उन्हें समझाया कि क्यों उनका आगे आना जरूरी था। हमने उन्हें इस बात के लिए मनाया कि यह सरकारी आदेश तो था ही, उनका अधिकार भी था। समुदाय को यह विश्वास दिलाने के लिए कि एस.डी.एम.सी. में काम करना सम्भव है, और इसमें उन्हें बहुत पैसा खर्च करने की जरूरत भी नहीं है, हमने गाँव के कुछ नेताओं और युवा लोगों पर ध्यान केन्द्रित किया। बहुत लोगों को यह विश्वास हो गया और साधारण माता–पिता एस.डी.एम.सी. के लिए चुने गए। इससे परिस्थिति में स्पष्ट अन्तर आ गया। शक्तिशाली लोगों द्वारा और अधिक शक्ति एवं अधिकार हासिल कर लेने की प्रक्रिया पर साफ–साफ रोक लग गई।

मेरे मित्र इस बात से बहुत नाखुश थे कि मैं अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में भर्ती करवाकर उन्हें गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से वंचित कर रहा था। इस बात ने मुझे परेशान किया। वाणी और मैंने इस पर चर्चा की। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अच्छे और बुरे स्कूल के बीच का अन्तर इस बात से तय हो जाता है कि बच्चे को अपने आसपास के संसार के साथ परिचय और जान–पहचान का कितना अवसर मिल पाता है। हम यह तो देख ही रहे थे कि अच्छी तरह संचालित निजी स्कूलों में बच्चों को इस तरह के बहुत से मौके मिलते हैं। इससे उनमें आत्मविश्वास पैदा होता है और उन्हें ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसलिए, हमने इस बात पर जोर दिया कि इस स्कूल के बच्चों को भी विविध प्रकार के अनुभव हों। हमने नाटक–कार्यशालाओं, नेतृत्व–शिविरों, सृजनात्मक कार्यशालाओं और बाह्य अनुभवों पर आधारित भ्रमण करवाने की योजना बनाई। जो कार्यशालाएँ तब शुरू की गई थीं, वे आज भी प्रारम्भिक दलों के छात्रों की सहायता से की जाती हैं। पास के एक ईंट–भट्टे के भ्रमण से शुरू हुए दौरे बाद में ऐतिहासिक महत्व के रोचक स्थानों तक फैल गए। शुरुआत एक छोटे से समूह से हुई, लेकिन जल्दी ही वह सब कक्षाओं के बच्चों के समूह के रूप में विकसित हो गया और इन दौरों पर सभी बच्चों के साथ उनके माता–पिता भी जाते थे, और इस तरह शिक्षकों की मदद भी होती थी।

हमारी एस.डी.एम.सी. के इतिहास में अगला चरण बहुत महत्वपूर्ण था। हम एस.डी.एम.सी. के माध्यम से लोगों और समुदाय के लिए कार्यक्रम आयोजित करने लगे। पहला कार्यक्रम वर्षा–जल के संग्रहण पर था। इस विषय के एक विशेषज्ञ श्री पाद्रे ने एक छोटा व्याख्यान और प्रदर्शन दिया। इससे लोगों में बहुत दिलचस्पी जगी और बाद में कई गतिविधियों का सिलसिला शुरू हुआ। हममें से कुछ ने अपने घर और अपनी जमीन में इन्हें अपनाया और इस प्रकार यह शुरुआत हुई। तीसरे साल तक हममें से अनेक परिवारों को इस क्षेत्र में बहुत अच्छी फसल मिलने लगी। आखिरकार, वाणी एस.डी.एम.सी. की अध्यक्ष हो गई और हमने स्कूल के कामों में बहुत लगन से भाग लेना जारी रखा। हमने बहुत से लोगों को बाल विकास, बच्चों का प्रभावी लालन–पालन, सीखने–सिखाने की प्रक्रिया और परिवार के भीतर संवाद के बारे में बोलने के लिए आमन्त्रित किया। इन निर्णयों के परिणामस्वरूप इन विषयों पर कार्यक्रम, शिविर और कार्यशालाएँ आयोजित करने में स्थानीय युवा समूह हमारे साथ जुड़ गए। दो भवन बन गए, गाँव में अपर्याप्त

> *यह लम्बा संघर्ष है। अपने गाँव के स्कूल में मेरे 25 साल के अनुभव से यह बहुत स्पष्ट हो गया है कि इस मामले में कोई त्वरित हल नहीं होता। किसी भी विकास कार्य की तरह इसमें समय और निरन्तर लगे रहने की आवश्यकता होती है। इसमें हमेशा उतार–चढ़ाव आते रहे हैं। हम अपने सपनों का स्कूल नहीं बना पाए हैं। हम अभी भी इस पर काम कर रहे हैं।*

सुविधाओं वाली आँगनवाड़ी को पूरी आधारभूत व्यवस्था के साथ स्कूल के प्रांगण में ले आया गया। स्कूल ने खेलों में बहुत अच्छा प्रदर्शन किया और ब्लॉक स्तर पर सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लिया। स्कूल ने एक पत्रिका प्रकाशित की जिसमें बच्चों ने विभिन्न विषयों पर लिखा। धीरे–धीरे स्कूल गाँव में गतिविधियों का केन्द्र बन गया। पर वाणी को अपना पद छोड़ना पड़ा क्योंकि हमारे बच्चों की स्कूली पढ़ाई पूरी हो गई थी और उन्हें हाईस्कूल शिक्षा के लिए गाँव से बाहर निकलना था।

हमारे बच्चों ने बैंगलुरू के सैन्टर फॉर लर्निंग (सी.एफ.एल.) में प्रवेश लिया। यहाँ एक बहुत अच्छा विकसित पालक–शिक्षक समूह था जिसकी बिना नागा हर माह बैठक होती थी, और विभिन्न विषयों पर चर्चा होती थी। ये विषय केवल शिक्षा तक ही सीमित नहीं होते थे बल्कि उनमें जीवन के व्यापक प्रश्न भी शामिल रहते थे। ये चर्चाएँ बहुत ज्ञानवर्धक और चुनौतीपूर्ण होती थीं। हम इन बैठकों में ज्यादातर समय चुप रहकर सुनते थे और बाद में उन पर काफी चिन्तन करते थे। मेरे गाँव के पालकों के विपरीत यहाँ के पालक बहुत समर्थ और सक्षम थे; वे न केवल विभिन्न स्तरों पर स्कूल की मदद करते थे, बल्कि स्कूल के अकादमिक और शैक्षणिक पहलुओं पर अपनी राय भी दे सकते थे। सी.एफ.एल. का मेरा एक अनुभव कुछ वर्ष पहले आयोजित राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार में भागीदारी का अनुभव था। इस सेमिनार में हमने उत्तर–पूर्वी कर्नाटक के सरकारी प्राथमिक स्कूलों के 13 शिक्षकों को आमन्त्रित किया था। मैं उनके लिए चर्चाओं का अनुवाद करते हुए और उनके सुख–आराम का ध्यान रखते हुए निरन्तर उनके साथ रहा। दिन की प्रस्तुतियों पर छिड़ी बहस पर हम रात में आगे चर्चा करते थे।

मैं कहूँगा कि स्कूल एस.डी.एम.सी. में मेरी भागीदारी ने मुझे निश्चित रूप से शिक्षक–पालक सम्बन्ध की गतिशीलता को समझने और उस पर काम करने में मेरी मदद की है।

यह प्रेम और चिढ़ का सम्बन्ध है: शिक्षक और पालक के सम्बन्ध में प्रेम और चिढ़, दोनों का भाव होता है। इन दो समूहों के बीच में एक प्रकार का अविश्वास होता है। मुझे अपने गाँव के स्कूल, सी. एफ.एल., और सुरपुर ब्लॉक के सी.एफ.एस.आई. (चाइल्ड फ्रैन्डली स्कूल इनिशियेटिव – बच्चों के लिए मैत्रीपूर्ण स्कूल प्रयास) के स्कूलों में से, जहाँ मैं काम करता हूँ, एक–सा धागा गुजरता हुआ दिखाई देता है। मेरे गाँव के स्कूल में शिक्षकों और पालकों के बीच का रिश्ता बड़ा रूखा और सीधा–सपाट था; सी.एफ.एल. में यह बहुत परिष्कृत और बारीक है; सुरपुर ब्लॉक में यह समाज के दो हिस्सों – अपढ़ गरीबों और शिक्षित शक्तिशाली लोगों – के बीच के तनाव जैसा प्रतीत होता है। मुझे लगता है कि ग्रामीण गरीबों के लिए स्कूल हमेशा एक बाहरी संस्था रही है जो उनकी एकरस दिनचर्या और जीविका के रास्ते में अड़चन की तरह आती है। इसलिए, गरीब पालक कभी स्कूल के लिए अपनेपन और स्वामित्व का भाव अनुभव नहीं कर पाते और उसकी गतिविधियों में पूरे दिल से भाग नहीं ले पाते। उनके बीच का अविश्वास एक या दो बैठकों से दूर नहीं किया जा सकता। इस संशय को केवल सचेतन रूप से निरन्तर प्रयास करके ही कम किया जा सकता है। किसी साझा या बड़े लक्ष्य के लिए मिलकर काम करना ही सफल होने की एकमात्र सुनिश्चित पद्धति है। मुझे अपने गाँव में कुछ सफलता मिली। सुरपुर स्कूल में लगने वाले मेलों ने बहुत सफलतापूर्वक बड़े पैमाने पर इन दोनों समुदायों को निकट लाने का कार्य किया। दोनों समुदायों ने अपना ध्यान बच्चों के सीखने और स्कूल की उपलब्धियों को प्रदर्शित करने पर केन्द्रित किया। मेरे लिए यह रिश्ता तब पूर्णता पर पहुँचा जब मेरे गाँव के स्कूल में एक विज्ञान और गणित मेला लगा जिसमें आसपास के चार स्कूलों ने भाग लिया।

शिक्षक नहीं चाहते कि आप उन्हें यह बताएँ कि कैसे पढ़ाना चाहिए: इन तीनों प्रकार के स्कूलों में मैंने यह बात पाई। शिक्षकों को लगता है कि यह उनका अधिकार क्षेत्र है; उन्हें अपने काम को एकाग्रचित्त होकर करने की जरूरत है और इस सिलसिले में कोई भी अन्य बात बेकार की बाधा होती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें मैंने अपने गाँव के स्कूल, सी.एफ.एल. और सुरपुर ब्लॉक में कुछ भी नया होते हुए नहीं देखा।

साथ–साथ योजना बनाने से हम साथ–साथ काम करने की ओर बढ़ते हैं: इसलिए सबसे बड़ी रुकावट योजना बनाने के स्तर पर होती है। यह एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें हम अपने गाँव के स्कूल में ज्यादा कुछ नहीं कर सके। हम हर साल जून के महीने में योजना बनाने का प्रयास करते थे और शिक्षक उसे हमेशा असफल कर देते थे। वाणी के एस.डी.एम.सी. की अध्यक्ष होने के बावजूद वे ऐसा करने में कामयाब हो जाते थे। इस एक क्षेत्र में गाँव की एस.डी.एम.

सी. के रूप में हम पूरी तरह असफल रहे। इसे एक सार्थक प्रक्रिया बनाने के लिए एक संगठित प्रयास की आवश्यकता है जिसमें विभागीय अधिकारियों और पालक समूह के नेताओं की सक्रिय भागीदारी हो।

सामूहिक नेतृत्व बेहद जरूरी है: इन संस्थाओं के लिए प्रतिनिधियों का होना ही नहीं बल्कि सामूहिक नेतृत्व का होना सबसे जरूरी शर्त है। आज मेरे गाँव में एस.डी.एम.सी. काफी सक्रिय है। उन्होंने इस साल विज्ञान और गणित मेले में पूरे मन से सहयोग किया। वे छुट्टियों में बच्चों की कार्यशालाएँ आयोजित करना जारी रखना चाहते हैं। यह सम्भव हो सका क्योंकि समुदाय का बड़ा भाग इसकी माँग करता है। शुरुआती दिनों में हमें अलग–अलग पालकों को यह समझाने में बहुत समय लगाना पड़ता था कि उन्हें स्कूल की गतिविधियों में क्यों भाग लेना चाहिए। बाद में किसानों के लिए कार्यक्रमों से लेकर स्वास्थ्य और व्यक्तित्व विकास कार्यक्रमों तक विभिन्न प्रकार की गतिविधियों के आयोजन हुए। उनमें सभी प्रकार के लोगों को भाग लेने का और इस तरह अपने स्वयं के विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का अवसर मिला। इसके परिणामस्वरूप अनेक लोगों और नेताओं में नेतृत्व के गुण पैदा हुए।

यह लम्बा संघर्ष है: अपने गाँव के स्कूल में मेरे 25 साल के अनुभव से यह बहुत स्पष्ट हो गया है कि इस मामले में कोई त्वरित् हल नहीं होता। किसी भी विकास कार्य की तरह इसमें समय और निरन्तर लगे रहने की आवश्यकता होती है। इसमें हमेशा उतार–चढ़ाव आते रहे हैं। हम अपने सपनों का स्कूल नहीं बना पाए हैं। हम अभी भी इस पर काम कर रहे हैं।

कृपया राजनीति को दूर रखें! तटस्थता का यह पूरा मामला मेरी समझ में नहीं आता। यह राजनीति ही है। शिक्षितों और धनवानों की राजनीति। यही कारण है कि एस.डी.एम.सी. के सशक्तीकरण के इस पूरे प्रयास का इतना विरोध है, उसे नकारा जाता है, और उसके प्रति अनिच्छा है। इसलिए इस भूमिका के लिए लोगों का समर्थ बनाया जाना बहुत जरूरी है। उन्हें अपनी आवाज उठाने की और जो वे चाहते हैं उसकी माँग करने की ताकत दी जाना चाहिए। इसलिए, एस.डी.एम.सी. के साथ काम करने में एक स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य है – निःशक्त लोगों को शक्तिशाली बनाना – गरीबों की राजनीति।

एक–दूसरे का सम्मान करना सफलता की कुंजी है: हमने पाया कि यह असली कारक था। पर हमने यह कई विफलताओं के बाद सीखा। इस प्रक्रिया में हमने अपने अनेक मित्र खो दिए और कुछ शत्रु भी बनाए। लेकिन अन्ततः स्कूल में हमारे काम ने हमें यह सिखाया कि किसी भी आन्दोलन में जिन लोगों के साथ आप काम करते हैं, उनका सम्मान करना बेहद जरूरी है। मुझे लगता है कि यह किसी भी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का आधार है। एकबारगी जब लोग दूसरों की बात सुनने, उस पर विचार करने, दूसरों का सम्मान करने और उन्हें महत्व देने के लिए राजी हो जाते हैं तो नए मूल्यों का एक ताना–बाना निर्मित हो जाता है। एक बार मूल्यों का यह ढाँचा स्थापित हो जाए तो फिर दल या समूह का कार्य ज्यादा आसान, अर्थपूर्ण और उत्पादक हो जाता है।

उमाशंकर पेरियोडी अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के चाइल्ड–फ्रेण्डली स्कूल इनिशिएटिव के प्रमुख हैं। उन्हें विकास के क्षेत्र में 25 वर्षों से भी अधिक का अनुभव है। उन्होंने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में, तथा कर्नाटक के बीआर हिल्स क्षेत्र में आदिवासी शिक्षा में व्यापक रूप से योगदान दिया है। वे कर्नाटक स्टेट ट्रेनर्स कलेक्टिव के अध्यक्ष भी हैं। उनसे periodi@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

19

सामुदायिक भागीदारी और स्कूल नेतृत्व

ग्रामीण कर्नाटक में नम्मा शाला पहल से कुछ उदाहरण

प्रदीप रामावत एवं रवीन्द्र प्रकाश

शिक्षकों को शिक्षा विभाग से प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि वे विद्यार्थियों के सीखने में समुदाय के सहयोग की सम्भावित क्षमता को पहचानें और समझें । पंचायतों और समुदाय–आधारित संगठनों के साथ साझेदारी को मजबूत करके स्कूल–प्रमुख विद्यार्थियों की उपलब्धि और सफलता को बढ़ा सकते हैं।

–बेल्ला शेट्टी, सार्वजनिक शिक्षा की उप–निदेशक, दावनागेरे

यह सच है कि हममें से प्रत्येक के भीतर नेतृत्व के गुण छिपे रहते हैं और वे तब ही उजागर होते हैं जब परिस्थिति इस की माँग करती है। नम्मा शाले कार्यक्रम में दबाव रिसता हुआ हर गाँव में पहुँच गया और शिक्षकों तथा प्रधान–शिक्षकों के छिपे हुए नेतृत्व–गुणों को बाहर निकाल लाया।

नम्मा शाले कर्नाटक के चार संकुलों (क्लस्टरों) में शुरू की गई पहल है। इसका उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में रुचि लेने वाले विभिन्न हिस्सेदारों के बीच संवाद का ताना–बाना निर्मित करके स्कूल और समुदाय के रिश्ते को मजबूत बनाना है। नम्मा शाले प्रोग्राम ने सरकारी स्कूलों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा को प्रभावित करने वाले सात भागीदारों को चिह्नित किया – यानी बच्चे, शिक्षक, पालक, स्कूल डेवलपमेन्ट एण्ड मॉनीटरिंग कमेटियाँ (एस.डी.एम.सी.), समुदाय–आधारित संगठन, ग्राम पंचायतें और शिक्षा–प्रबन्धक। ऐसा माना गया कि इन सभी भागीदारों (बल्कि भागीदारों के इस इन्द्रधनुष) के बीच संवाद का ताना–बाना बुन कर हम सरकारी स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता सुधार सकते हैं और इन स्कूलों में शिक्षक बिरादरी के प्रदर्शन को प्रभावित कर सकते हैं। कर्नाटक की सरकार, सार्वजनिक शिक्षा विभाग और अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के संयुक्त कार्यक्रम के रूप में 2007 में नम्मा शाले कार्यक्रम शुरू किया गया। कार्यक्रम के तहत प्रत्येक क्लस्टर में तीन से चार सदस्यों के क्लस्टर–सहायक दल बनाए गए जिनकी नियुक्ति और निगरानी एक स्थानीय गैर–सरकारी संगठन द्वारा की गई। कार्यक्रम को लागू करने के लिए इकाइयाँ स्थापित की गईं। शोध और दस्तावेजीकरण करने तथा कार्यक्रम में शामिल सभी लोगों को तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए कर्नाटक स्टेट ट्रेनर्स कलेक्टिव (के. एस.टी.सी.) से लोग जुटाने का काम इन्हीं इकाइयों को करना था।

प्रदीप रामावत

रवीन्द्र प्रकाश

"कक्षा में सीखने–सिखाने के कार्य से सम्बद्ध मुद्दों से जूझने के लिए शिक्षकों को कभी गुणवत्तापूर्ण समय नहीं मिलता; हमें पढ़ाने दिया जाए और बस शिक्षक ही बने रहने दिया जाए।"

– नागेश, प्रधान शिक्षक, मनुगनहल्ली, गावदागेरे क्लस्टर

पालकों की निरन्तर माँगों में से एक रही है कि अँग्रेजी पढ़ाई जाए। कई लोग इसी कमी को आधार बनाकर सरकारी स्कूल छोड़ रहे हैं। शिक्षा की गुणवत्ता पर समझ बना पाने के लिए केरल–दौरे के अनुभव के तुरन्त बाद पालकों और शिक्षकों ने तय किया कि उन्हें अपने स्कूलों में अँग्रेजी के शिक्षण को और मजबूती देनी चाहिए। मनुगनहल्ली के प्रधान शिक्षक नागेश ने इस दिशा में पहला कदम उठाया। उनकी लड़की एक निजी स्कूल में पढ़ रही थी। उन्होंने उसकी अँग्रेजी की पुस्तकों का अध्ययन किया तो उनकी समझ में आया कि वे कहीं अधिक बाल–मित्र किस्म की किताबें थीं और पढ़ाने में भी आसान थीं। उन्हें यह भी पता चला कि सीखने के लिए पाठ्यपुस्तकों के अलावा बच्चे बहुत सी कार्यपुस्तिकाओं का उपयोग भी करते थे। उन्होंने ये बातें अपने स्कूल के बच्चों के पालकों को बताईं और यह भी बताया कि प्रत्येक बच्चे के लिए इन पुस्तकों की लागत लगभग 150 रु. आएगी। पालक यह खर्चा उठाने को तैयार हो गए। वे कुछ पालकों को लेकर मैसूर गए। वहाँ बाजार का सर्वेक्षण किया और उपयुक्त पूरक पाठ्यसामग्री चुनी। उन्होंने इस सामग्री का इस्तेमाल करना सीखा और पाठ–योजनाएँ बनाईं। इसके फलस्वरूप अधिकांश बच्चों ने बहुत तेजी से अँग्रेजी सीखना शुरू कर दिया, और उनमें से कई अब आपस में अँग्रेजी में बात करते हैं। अब प्रधान–शिक्षक नागेश कहते हैं, "मैं भी कन्नड़ माध्यम के स्कूल में पढ़ा हूँ और मैंने अँग्रेजी सीखना दस साल की उम्र में शुरू किया; मैं नहीं चाहता कि मेरे विद्यार्थी ऐसी ही स्थिति का सामना करें। इसलिए मैं यह सुनिश्चित कर रहा हूँ कि मेरे स्कूल के बच्चे पहले ही अँग्रेजी सीख जाएँ।" नागेश में सम्भावनाओं से परिपूर्ण दूरदर्शिता है। वे खोजबीन करने वाले स्कूल–प्रमुख हैं और व्यावहारिक भी, क्योंकि वे अपनी रणनीतियों में समुदाय को शामिल

करते हैं। ये ऐसे गुण हैं जो उनके जैसे अन्य स्कूल–प्रमुख भी आसानी से आत्मसात कर सकते हैं।

एक स्कूल प्रमुख के मार्गदर्शन के लिए पूरा समुदाय चाहिए

....नम्मा शाले कार्यक्रम का आधारभूत सिद्धान्त

नम्मा शाले कार्यक्रम के अनुभवों ने सिद्ध कर दिया है कि स्कूल–नेतृत्व तभी प्रभावी होता है जब उसके साथ स्थानीय स्तर पर एक बेहतर 'सामुदायिक भागीदारी' भी हो। इसलिए, एक मजबूत साझेदारी बेहद महत्वपूर्ण है। यह 'स्कूल और समुदाय के रिश्ते' को मजबूत बनाकर और बाद में दोनों के बीच सम्प्रेषण और संवाद का एक मजबूत ताना–बाना स्थापित करके किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में, नम्मा शाले कार्यक्रम ने 'स्कूल नेतृत्व' को स्कूल तथा समुदाय के रिश्ते के उपफल की तरह नहीं देखा, बल्कि उसकी कल्पना सम्प्रेषण और संवाद के अभिनव औजारों के 'पूरक प्रभाव' के रूप में की। इन्हीं के चलते 'इन्द्रधनुषी भागीदार' सहजीवन की पारस्परिक प्रक्रिया में सहयोग करते हैं।

इस हस्तक्षेप के दौरान, और नम्मा शाले कार्यक्रम को सुदृढ़ करने के चरण की समाप्ति पर एकत्र किए गए विचारों और राय ने इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में शामिल लोगों को समुदाय तथा शिक्षक, दोनों के 'पारस्परिक सशक्तीकरण' के एक सिद्धान्त पर पहुँचने में मदद की। शुरुआत से ही नम्मा शाले ने स्कूल नेतृत्व को लम्बे दौर के लिए विकसित करने का सतत प्रयास किया। विभिन्न चर्चाओं से यह तथ्य निकलकर सामने आया कि समुदाय की भरपूर सहायता और सहयोग मिलने पर ही प्रधान–शिक्षक द्वारा समुदाय को स्वीकार्य अच्छा नेतृत्व प्रदान किया जा सकता है। विभाग के नियम और प्रक्रियाएँ स्कूल के प्रशासन से सम्बन्धित निर्णय लेने में अक्सर शिक्षकों के आड़े आते हैं। नम्मा शाले ने स्कूल के संचालन की प्रक्रियाओं में समुदायों को सक्रिय रूप से शामिल करके शिक्षकों को पीछे से सहारा प्रदान किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आने वाले स्थानीय समुदाय अब आगे बढ़कर स्कूलों के लिए आवश्यक अतिरिक्त संसाधन जुटाने का सक्रिय प्रयास कर रहे हैं; वे अपने बच्चों की पढ़ाई की निगरानी करने, मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम चलाने, स्कूल के मूलभूत ढाँचे का संरक्षण करने, और स्कूल के विकास के लिए वित्तीय राशियाँ जुटाने में मदद करते हैं। युवा और सामुदायिक संगठन भी स्कूलों में बेहतर गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षकों के साथ हो गए हैं। इसी प्रकार, नम्मा शाले कार्यक्रम ने शिक्षकों का आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए अभिनव प्रशिक्षण कार्यक्रमों तथा सशक्तीकरण रणनीतियों की संरचना की है।

> *नागेश में सम्भावनाओं से परिपूर्ण दूरदर्शिता है। वे खोजबीन करने वाले स्कूल–प्रमुख हैं और व्यावहारिक भी, क्योंकि वे अपनी रणनीतियों में समुदाय को शामिल करते हैं। ये ऐसे गुण हैं जो उनके जैसे अन्य स्कूल–प्रमुख भी आसानी से आत्मसात कर सकते हैं।*

मैंगलोर के कॉलेज फॉर लीडरशिप एण्ड ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेन्ट (सी.एल.एच.आर.डी.) द्वारा 'स्कूल–समुदाय नेतृत्व' प्रशिक्षण कार्यक्रम के प्रभाव का विश्लेषण करने के दौरान प्रधान शिक्षकों से 'स्कूल–समुदाय नेतृत्व' की उनकी समझ का ब्यौरा देने का अनुरोध किया गया। 38 प्रधान–शिक्षकों ने विचार व्यक्त किया कि उनकी दृष्टि में आदर्श स्कूल–समुदाय नायक वह होगा जो–

क) स्कूल के भवन को एक बृहत्तर सामुदायिक ढाँचे के बीच एक बसेरे की तरह बना हुआ देखता हो।

ख) समुदाय की आवश्यकताओं की फिक्र करता हो और समुदाय उसकी आवश्यकताओं की।

ग) इन्द्रधनुषी भागीदारों, जैसे पालकों, शिक्षकों, बच्चों, एस.डी.एम.सी. सदस्यों, सामुदायिक संगठनों के सदस्यों, ग्राम पंचायतों के सदस्यों और शिक्षा–प्रशासकों के साथ गुणवत्तापूर्ण सार्थक समय बिताना बेहद पसन्द करता हो।

घ) समुदाय के सदस्यों को सक्रिय तौर पर शामिल करते हुए स्कूल की गतिविधियों की योजना बनाए और उसे कार्यान्वित करे।

ड.) शैक्षणिक और गैर–शैक्षणिक गतिविधियों से सम्बन्धित स्कूल सुधारों के बारे में अपने विचार दूसरों के साथ बाँटे और संसाधन जुटाने की प्रक्रिया में पालकों के अलावा समुदाय के अन्य लोगों का भी सहयोग हासिल करे।

नम्मा शाले कार्यक्रम में 'स्कूल नेतृत्व' को टिकाऊ बनाए रखने के लिए ध्यान देने लायक दो महत्वपूर्ण बातें हैं।

- यह शैक्षणिक परिवर्तन और उसकी संस्कृति की सूक्ष्म राजनीति की रणनीति तय करता है जिसे स्कूल नेतृत्व द्वारा प्रकल्पित करके प्रक्रिया में लाया जाता है; दोनों ही में राजनीतिकरण की अत्यधिक आशंका रहती है। इसलिए, एस.डी.एम.सी के ताने–बाने बुनते समय सावधानी बरतनी चाहिए।
- स्थानीय स्कूल के वातावरण को शिक्षा के अधिकार कानून (आर.टी.ई.) के अनुसार संयोजित करना।

नम्मा शाले कार्यक्रम में 'स्कूल–समुदाय नेतृत्व' की जड़ें समुदाय के सशक्तीकरण की प्रक्रिया में गहरे तक थीं। जब शिक्षक बिरादरी बृहद समुदाय की माँगों पर ध्यान देती है और उनके समाधान का प्रयास करती है, तो समुदाय भी शिक्षकों द्वारा स्कूल का नेतृत्व किए जाने को स्वीकारता है और उसमें सहयोग करता है। समुदाय शिक्षकों के गैर–शैक्षणिक कार्यों की जिम्मेदारी में हाथ बँटाने के लिए आम तौर पर तैयार रहता है; शिक्षकों को इसका लाभ उठाना चाहिए क्योंकि इससे उन्हें अपनी शैक्षणिक जिम्मेदारियाँ पूरी करने के लिए अधिक समय मिलेगा। स्कूल नेतृत्व की ऐसी अवधारणा स्कूल के विकास के साझा उद्देश्य के लिए साझा जिम्मेदारी की ओर इशारा करती है। जब साझा नेतृत्व समूचे स्कूली समुदाय में जड़बद्ध होता है तो उसके लम्बे समय तक सामाजिक रूप से बने रहने की गुंजाइश बहुत बढ़ जाती है।

प्रदीप रामावत बंगलौर में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी के रिसोर्स सेन्टर के एजुकेशन लीडरशिप एण्ड मैनेजमेन्ट टीम के सदस्य हैं। उन्होंने नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (एन.यू.ई.पी.ए.), नई दिल्ली से एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन में एम.फिल. किया है। वे नम्मा शाले कार्यक्रम के लिए ज्ञान–आधार के निर्माण में लगे हैं। शिक्षा में समुदाय की भागीदारी और नेतृत्व विकास प्रदीप की रुचि के क्षेत्र हैं। उनसे pradeep.ramavath@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

रवीन्द्र प्रकाश नम्मा शाले प्रोजेक्ट में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के एक सलाहकार हैं। समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर शिक्षा के बाद उन्होंने 1976 से 1984 तक सहकारिता विस्तार अधिकारी के रूप में काम किया। 1993 से 2001 तक मंगालुरू में प्रौढ़ शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रों में उनके कई अध्ययन–पत्र प्रकाशित हुए है। उनसे ravindraprakash@azimprremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

5 सितम्बर, 2012 से नए रूप में

टीचर्स ऑफ इण्डिया

शिक्षक हमारी शिक्षा व्यवस्था के हृदय हैं। शिक्षा को अगर बेहतर बनाना है तो शिक्षण सामग्री और शिक्षण विधियों के साथ–साथ शिक्षकों को भी इस हेतु पेशवर रूप से सक्षम तथा बौद्धिक रूप से सम्पन्न बनाए जाने की जरूरत है।

इसके लिए हर स्तर पर तरह–तरह के प्रयास किए जा रहे हैं। टीचर्स ऑफ इण्डिया पोर्टल ऐसा ही एक प्रयास है। तेजी से बदलती और विकसित होती दुनिया में कम्प्यूटर तकनॉलॉजी जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर गई है। शिक्षा भी इससे अछूती नहीं है। पोर्टल इस तकनॉलॉजी पर ही आधारित है। इसीलिए इसे शिक्षकों का ई–मंच भी कहा जा सकता है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की प्राप्ति के लिए कार्यरत अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने इसकी पहल की है। वर्ष 2008 में शिक्षक दिवस पर इसका शुभारम्भ किया गया था। यह बहुभाषी पोर्टल राष्ट्रीय ज्ञान आयोग द्वारा प्रस्तावित एवं समर्थित है। पिछले लगभग तीन साल में प्राप्त प्रतिक्रियाओं, सुझावों तथा अनुभवों को ध्यान में रखकर इसे और अधिक सुगम तथा सहज बनाने का प्रयास किया गया है।

टीचर्स ऑफ इण्डिया के नए रूप में *कक्षा संसाधन* तथा *शिक्षक विकास* के अन्तर्गत सामग्री प्रस्तुत की जा रही है। इनमें पाठ योजना, गतिविधि, वर्कशीट, पीपीटी, ऑडियो, वीडियो, ईबुक, लेख, इमेज के रूप में विभिन्न सामग्री है।

वे जो 'खास' हैं में ऐसे शिक्षकों, व्यक्तियों और संस्थाओं को सामने लाने का प्रयास है, जिन्होंने अपने उल्लेखनीय शैक्षणिक काम की बदौलत स्कूल, शिक्षक या शिक्षा की छवि और अर्थ को सही मायने में स्थापित किया है। *समुदाय* में शिक्षकों को और पास लाने का प्रयास है। *'चर्चा'* में समसामयिक मुद्दों पर हमख्याल शिक्षकों तथा अन्य साथियों से चर्चा की जा सकती है। *खबरतबर* में शैक्षिक जगत में हो रही या होने वाली गतिविधियों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। *मदद* है वह जगह जहाँ शिक्षक सवाल पूछ सकते हैं।

यह निशुल्क है और हिन्दी, कन्नड़, तमिल, तेलुगू तथा अँग्रेजी में www.teachersofindia.org ई–पते पर उपलब्ध है।

खण्ड स

निजी अनुभव

20 एक अच्छे स्कूल–प्रमुख की मेरी धारणा

उर्मिला चौधरी

इस लेख के शीर्षक पर विचार करते हुए मैंने उन सभी स्कूल–प्रमुखों के बारे में सोचा जिनसे बीते वर्षों में मेरा परिचय रहा है। एक चेहरा बार–बार उभरकर सामने आता रहा – मेरे अपने बचपन के छोटे से स्कूल की संस्थापक प्राचार्य का चेहरा। वह स्कूल उस वक्त एक अपेक्षाकृत गुमनाम संस्था थी पर अब कोलकाता का काफी विख्यात स्कूल हो गया है। मैं सोच में पड़ गई कि आखिर क्या बात है जो 30 साल से अधिक समय के बाद भी वे मेरे लिए इतनी सजीव हो उठीं? मुझे याद है कि वे हमें पढ़ाती थीं, पर यह बिलकुल याद नहीं कि उन्होंने हमें क्या–क्या सिखाया – सिवाय इसके कि वे अँग्रेजी व्याकरण पढ़ाती थीं। पर मुझे यह जरूर याद है कि उन्हें प्रत्येक विद्यार्थी की हर छोटी–छोटी बात, यहाँ तक कि उसकी पारिवारिक परिस्थितियों की भी जानकारी होती थी। मुझे याद है कि किस तरह वे स्कूल के बरामदे में बच्चों को रोककर उनके भाई–बहिनों, माता–पिता या दादा–दादी,नाना–नानी तक का कुशलक्षेम पूछा करती थीं। प्रत्येक बच्चे को इतने करीब से जान पाने की उनकी इस क्षमता से हम लोग विस्मित थे और सोचते थे कि उनके पास अलौकिक शक्तियाँ हैं!

अब मुझे अहसास होता है कि वे शिक्षण की एक बेहद महत्वपूर्ण हकीकत को समझती थीं – अच्छे शिक्षक वे होते हैं जो बच्चों के शिक्षक हों, न कि विषयों के – जब हम बड़े होते हैं, तो हम अपने शिक्षकों के बारे में यह याद नहीं करते कि उन्होंने हमें क्या पढ़ाया बल्कि यह याद करते हैं कि उनकी वजह से हम कैसा महसूस करते थे। उन्हें पता था कि विद्यार्थियों की व्यक्तिगत परिस्थितियाँ और भावनात्मक दशाएँ उनकी सीखने की क्षमता को प्रभावित करती हैं। वे एक ऐसी स्कूल–प्रधान थीं जिन्होंने कुछ अकल्पनीय किया – एक बाल–मित्र, सुरक्षित और खुशनुमा परिवेश तैयार करने के बारे में सोचा, जहाँ प्रत्येक छात्र या छात्रा स्वयं में मौजूद सम्भावनाओं को पूरा कर सके। यह उन्होंने ऐसे समय में किया जब बाकी सभी स्कूल अंकों और परीक्षा परिणामों के पीछे भागने में लगे थे। उन्होंने सृजनशीलता को बहुत महत्वपूर्ण माना और कला, संगीत तथा रंगमंच को उतना ही महत्व दिया जितना कि शैक्षणिक विषयों को। एक अच्छे स्कूल प्रधान के लिए जरूरी है कि वह आगे की सोच रखे और मेरी स्कूल प्रमुख अपने समय से काफी आगे थीं।

> *अच्छे शिक्षक वे होते हैं जो बच्चों के शिक्षक हों, न कि विषयों के। जब हम बड़े होते हैं, तो हम अपने शिक्षकों के बारे में यह याद नहीं करते कि उन्होंने हमें क्या पढ़ाया बल्कि यह याद करते हैं कि उनकी वजह से हम कैसा महसूस करते थे।*

प्रेम और आदर से भरी मेरी अगली याद उस स्कूल की प्रमुख की है जिसने सबसे पहले मुझे शिक्षिका का काम दिया। हालाँकि मैंने वहाँ केवल एक वर्ष काम किया, पर मैंने शिक्षण के बारे में वहाँ जो भी सीखा वह मेरे लिए आज भी मूल्यवान है। चूँकि वे खुद भी कई सालों तक शिक्षिका रह चुकी थीं, अतः उन्हें इस बात की खूब समझ थी कि कक्षा के भीतर क्या होता है, यानी कि सीखने–सिखाने की पूरी प्रक्रिया से वे परिचित थीं। नतीजतन, जब मेरी जैसी एक अनुभवहीन शिक्षिका अपनी शिक्षण योजनाओं के साथ उनसे मिली, तो उन्होंने झट से मुझे बता दिया कि क्या बात काम करेगी और क्या नहीं। वे सलाह तो देती थीं, पर उन्होंने नए, युवा शिक्षकों को कभी तुच्छ नहीं समझा। वे अच्छे विचारों को सराहती थीं और समस्याओं के लिए समाधान बताती थीं। दरअसल उनके भीतर अपने शिक्षकों को सिखाने–रास्ता दिखाने की और उनके अन्दर के सर्वश्रेष्ठ को बाहर निकाल पाने की अद्‌भुत क्षमता थी। पर ऐसा करते हुए उन्होंने कभी भी स्टाफ–रूम के अन्दर अस्वस्थ प्रतिस्पर्धात्मक माहौल नहीं पनपने दिया। वे खुद भी पढ़ाने को लेकर इतनी उत्साहित रहती थीं कि उनके इस जोश से प्रभावित न होना असम्भव था।

लगता है कि सबसे बढ़िया स्कूल–प्रमुख वे होते हैं जो खुद अच्छे शिक्षक हों और जिन्हें पाठ्यचर्या की पूर्ण समझ हो। बल्कि सभी स्कूल–प्रमुखों के लिए यह जरूरी है कि वे पढ़ाना जारी रखें और स्कूल की रोजमर्रा की गतिविधियों में शामिल रहें–इस प्रकार वे नायकों के रूप में ज्यादा प्रभावशाली हो सकेंगे। दुर्भाग्यवश, बहुत कम स्कूल प्राचार्य इसे एक प्राथमिकता के रूप में देखते हैं क्योंकि वे प्रशासनिक कार्यों में उलझते ही चले जाते हैं। इसी तरह, शिक्षक समुदाय के साथ–साथ स्कूल प्रधान के लिए भी प्रशिक्षण सत्रों में भाग लेना बहुत जरूरी है ताकि वे ताजातरीन पद्धतियों एवं बदलावों से वाकिफ रहें और अपने कौशल तथा ज्ञान को तरोताजा रख सकें। मैंने अपने अनुभव से पाया है कि अक्सर स्कूल–प्रमुख सोचते हैं कि शिक्षकों के लिए आयोजित किए जाने वाले किसी तरह के प्रशिक्षण में भाग लेना उनके लिए समय गँवाने जैसा है।

एक अच्छे स्कूल–प्रमुख के लिए हमेशा ही यह दिमाग में रखना जरूरी है कि सबसे अधिक महत्व बच्चों का है। पालकों, शिक्षकों, समय–सारणियों, पाठ्यचर्या, विभिन्न स्कूली गतिविधियों – सबका ध्यान बस एक ही ओर होना चाहिए – बच्चों के विकास की ओर। एक बार हम यह समझ लेते हैं तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

प्रत्येक स्कूल–प्रमुख का उद्देश्य होना चाहिए कि वह बच्चों की विशेषताओं में भेद कर पाए। समय आ गया है कि हम यह समझें कि बहुत से स्कूलों द्वारा अपनाई जाने वाली 'सबके लिए एक जैसा उपयुक्त है' की नीति सही नहीं है – यह नीति इन्सान में मौजूद बहुत सी सम्भावनाओं को नष्ट कर देती है।

प्रेरणादायी और महान नायक के रूप में जो तीसरे व्यक्ति मेरे दिमाग में आते हैं, वे अब तक दो प्रसिद्ध स्कूल स्थापित कर चुके हैं। वे काफी विनोदी हैं। उन्हें बच्चों की सहज समझ है और इस बात की भी कि उनके सोचने का तरीका क्या होता है। आत्मविश्वास से भरा उनका कथन– "यह भी बीत जाएगा" – किशोर बच्चों के कई थके–हारे पालकों को अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखने में मददगार होता था। स्पष्ट सोच, तेजी से लिए गए लेकिन सोचे–समझे निर्णय, तपती हुई ईमानदारी और गहरी करुणा उनके कुछ ऐसे गुण थे जिनकी वजह से बाकी लगभग सभी लोगों से उनका कद बहुत ऊँचा था, भले ही उनकी कद–काठी छोटी रही हो।

'अच्छे स्कूल–प्रमुख की मेरी धारणा' के बारे में सोचते वक्त मैंने सही अर्थों में असाधारण कुछ ऐसे नायकों को याद किया है जिनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे इस जीवन में प्राप्त हुआ। यह सूची मेरी माँ का उल्लेख किए बगैर पूरी नहीं हो सकती जिन्होंने कोलकाता के पिछड़े इलाकों में रहने वाले सुविधाहीन बच्चों के लिए एक स्कूल का निर्माण किया। उसकी शुरुआत करते वक्त उनके पास सिर्फ उनका जोश और जुनून था और सभी बाधाओं तथा समस्याओं से निपटने का दृढ़ विश्वास था। उद्देश्य के प्रति अपनी एकनिष्ठता और पूरी तरह से विनम्र स्वभाव की वजह से उन्हें लोगों से खूब आदर और स्नेह मिला। कई तरह से मदद मिली जिससे वे अपने स्वप्न को साकार कर सकीं। सब कुछ छोड़कर सिर्फ अपने लक्ष्य के प्रति कटिबद्ध और पूर्णतः समर्पित होने की उनकी क्षमता से उनके साथियों को भी लक्ष्य की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखने में मदद मिलती थी। मेरी माँ अभी हाल ही में गुजरी हैं। उनके पक्के इरादे को हम याद रखेंगे। इससे हमें उनके स्वप्न को जीवित रखने में मदद मिलेगी।

मैं सोचती हूँ कि क्या यह महज संयोग है कि शिक्षण के ऐसे अद्भुत स्थानों को बनाने और उन्हें आकार देने के लिए निस्वार्थ भाव से काम करने वाली ये चारों महिलाएँ हैं?

उर्मिला चौधरी ला मार्टिनेयर, कोलकाता और श्रीराम स्कूल, नई दिल्ली में (जहाँ कि वे बाद में उप–प्राचार्य बनीं) अँग्रेजी की शिक्षिका रही हैं। उन्हें अँग्रेजी पढ़ाने का 20 साल का अनुभव है। उनके पास बी.एड. और अँग्रेजी में एम.ए.की डिग्रियाँ हैं। इसके अलावा, प्रौढ़ों को अँग्रेजी पढ़ाने का केम्ब्रिज प्रमाणपत्र (सी.ई.एल.टी.ए.) भी है। वर्तमान में वे पाठ्यचर्या लेखन, शिक्षक–प्रशिक्षण और प्रौढ़ों को अँग्रेजी पढ़ाने जैसे कामों के लिए सलाहकार के रूप में कार्यरत हैं। वे सी.बी.एस.ई. तथा आगा खान फाउण्डेशन की परामर्शदाता भी रही हैं। उन्हें शिक्षक–प्रशिक्षण का व्यापक अनुभव है तथा भारत एवं मध्यपूर्व में उन्होंने इसकी कई कार्यशालाएँ आयोजित की हैं। उनसे urmichow@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

21 मेरा स्कूल – मेरा सपना : स्कूल–प्रमुख की मेरी आदर्श छवि

आयशा दास

अब्बा सब कुछ कह देते हैं और यही मार्टिन लूथर किंग जूनियर करते थे।

हर प्रभावशाली शिक्षक का एक सपना होता है। हर सफल वैज्ञानिक का एक सपना होता है। हर व्यवसायी का एक सपना होता है। यदि आप किसी सपने से प्रारम्भ नहीं करते तो आप यथार्थ का सामना नहीं कर सकते। लेकिन एक सपना साथ हो तो आप किसी भी चीज का सामना कर सकते हैं।

आदर्श स्कूल नेतृत्व के बारे में मैं यूँ सोचना चाहूँगी जैसे वह एक अच्छे सपने की शुरुआत हो। आखिरकार, हर स्कूल उतना ही सफल होता है जितना उसका नेतृत्व। आदर्श स्कूल–नेतृत्व वास्तविकता पर आधारित सपने प्रदान करता है और बच्चों, पालकों तथा शिक्षकों – पूरे स्कूल परिवार – को आनन्द, परिपूर्णता और सफलता के लक्ष्य की ओर ले जाता है। आदर्श स्कूल–प्रमुख को यह अहसास होता है कि उसके स्कूल का प्रत्येक बच्चा और प्रत्येक

शिक्षक एक अनूठा व्यक्ति है। हर व्यक्ति की अपनी शक्तियाँ और कमजोरियाँ होती हैं। इसके अलावा हर व्यक्ति की अपेक्षाएँ होती हैं। और एक आदर्श नेतृत्व इन अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए प्रोत्साहन और आवश्यक साधन प्रदान करता है।

क्या यह एक हजार से अधिक बच्चों और अनेक शिक्षकों वाले किसी बड़े स्कूल में कतई सम्भव है? कई साल पहले प्रत्येक कक्षा में शायद 25 या 30 बच्चे होते थे। आज अधिक सम्भावना इस बात की है कि एक ठंसी हुई कक्षा में केवल एक शिक्षक, 50 से अधिक बच्चे और गतिविधि के लिए बहुत थोड़ी–सी जगह होगी। पुराने दिनों में, एक स्कूल में खेल का मैदान, गायन कक्षाएँ, प्रतिभाशाली बच्चों के लिए अतिरिक्त संगीत कक्षाएँ, वार्षिक स्कूल नाटक, क्रिसमस बाजार और खेल उत्सव होते थे। बच्चों के लिए विविध प्रकार की गतिविधियाँ होती थीं और उन्हें ऐसे अनुभवों का खजाना मिलता था जो रोचक, रोमांचक और चुनौतीपूर्ण होते थे।

पुराने दिनों में, एक स्कूल में खेल का मैदान, गायन कक्षाएँ, प्रतिभाशाली बच्चों के लिए अतिरिक्त संगीत कक्षाएँ, वार्षिक स्कूल नाटक, क्रिसमस बाजार और खेल उत्सव होते थे। बच्चों के लिए विविध प्रकार की गतिविधियाँ होती थीं और उन्हें ऐसे अनुभवों का खजाना मिलता था जो रोचक, रोमांचक और चुनौतीपूर्ण होते थे।

ऐसे व्यस्त लोग होते हैं जो ढेर सारी चीजों में दिलचस्पी लेते हैं और उनमें संलग्न रहते हैं। आमतौर पर ऐसे लोगों के पास किसी और रुचि के लिए भी समय रहता है, क्योंकि समय–प्रबन्धन का उनका कौशल उन्हें ऊर्जावान, स्वस्थ और उत्साह भरा बनाए रखता है। दुर्भाग्य से, ऐसे भी अनेक लोग होते हैं जो प्रतिभावान होते हुए भी बहुत कम कुछ करते हैं और उनके पास "समय नहीं रहता" क्योंकि वे "बहुत व्यस्त" रहते हैं।

मेरे सपने का आदर्श स्कूल–नेतृत्व 10 अति आवश्यक बिन्दुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है:

1. पूरे स्कूल की प्रसन्नता: यह जॉन "मिस्टर चिप्स" मेसन द्वारा प्रस्तुत किया गया एक विचार है। मुझे यह बहुत शानदार विचार लगा क्योंकि मैंने हमेशा महसूस किया है कि कोई स्कूल कितना अच्छा है, इसका निर्णय आप उस प्रसन्नता गुणांक को ध्यान में रखकर ले सकते हैं जो आपको अपने आसपास दिखाई देता है और जिसे आप अनुभव कर सकते हैं। यह बात हमने प्रशिक्षण महाविद्यालय में मनोविज्ञान में सीखी थी: "एक प्रसन्न बच्चा अधिक तेजी से सीखता है और यह उसे अच्छा लगता है।"

2. आदर्श स्कूल का प्रतिनिधित्व एक त्रिभुज द्वारा किया जाता है। इसमें स्कूल–प्रमुख, शिक्षक दल और घर के पास अदा करने को एक भूमिका होती है। बच्चा इस त्रिभुज के केन्द्र में अति महत्वपूर्ण व्यक्ति (वी.आई.पी.) के रूप में होता है।

3. आदर्श स्थिति में नेतृत्व एक ऐसा स्कूल चाहेगा जो बाहर खुले में गतिविधियों के लिए पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करता हो। इनके माध्यम से चढ़ने, दौड़ने, साइकिल चलाने, पैदल चलने, प्रकृति और हर प्रकार की रचनात्मकता के लिए गुंजाइश रहेगी (जैसे, पेड़ पर बना एक घर? पैडल–नाव चलाने लायक पोखर? रेत का गड्ढा? बागवानी? एक जंगल जिम? तुम फिर से सपना देख रही हो, आयशा!) ।

4. कक्षा के कमरेः हम आन्तरिक सज्जा के व्यवसाय में न होकर सीखने के व्यवसाय में हैं। और एक स्कूल तब पनपता है जब सीखना रोमांचक हो; हर क्षण खोज, अनुभव और अन्वेषण का अवसर प्रदान करता हो। प्रत्येक इंच जगह का इस्तेमाल किया गया होः खिड़की की पट्टी और बहुत से नरम बोर्ड, प्रकृति की एक मेज और घर का एक कोना। कृपया गौर करें कि इन चीजों का केवल नर्सरी और किण्डरगार्टन कक्षाओं तक ही सीमित रहना जरूरी नहीं है। छोटी कक्षाओं में होने वाली प्रकृति–मेज भी उतनी ही रोचक हो सकती है जितनी कक्षा सात या आठ के स्तर पर जहाँ प्रकृति और विज्ञान उचित आकार लेने लगते हैं।

   घर का कोना चार साल के बच्चों को बड़ों की भूमिका निभाने का अवसर देता है; अधिक आयु के बच्चे भी बढ़ईगिरी या खाना बनाना सीख सकते हैं – उसी तरह, जैसे घर में कोई शौकिया तौर पर यह काम करता है ।

   वह शिक्षक भाग्यशाली है जिसे 30 से कम बच्चों की कक्षा को पढ़ाना हो। लेकिन जैसा एक बार सीनियर सिरिल ने कहा था, "अब कक्षाएँ तो बड़ी ही रहने वाली हैं, तो अधिक संख्या को सम्भालने का तरीका खोज ही लें।" एक ही रास्ता है – समूह में पढ़ाने के तरीके अपनाए जाएँ। इसलिए कक्षा के फर्नीचर की व्यवस्था ऐसी होगी जिसमें से शिक्षक और छात्रों के समूह आसानी से आ–जा सकें।

   किसी भी कार्यस्थल में रंग एक महत्वपूर्ण पहलू होता है और इसका सम्बन्ध खासतौर से मौसम, वायु संचार और प्राकृतिक प्रकाश से होता है। गरम रंग होते हैं और ठण्डे रंग होते हैं। रंग राहत देने वाले भी होते हैं और शान्त करने वाले भी। दीवारों पर उपयोग करने के लिए सबसे सुरक्षित रंग सफेद या क्रीम होता है, क्योंकि फिर आप अपने नरम बोर्डों और फर्नीचर को रंगने के लिए कोई भी रंग चुन सकते हैं (किस्मत का धन्यवाद है कि अब धोए जा सकने वाले रंग और नीले टैक उपलब्ध हैं!)।

5. अच्छा स्कूल–नेतृत्व इस बात को समझता है कि करके सीखा जाए, वह इस सिद्धान्त में यकीन रखता है; इसलिए गतिविधि आधारित पद्धतियाँ बहुत जरूरी हैं। एक अच्छे स्कूल में रटकर सीखने को कभी बर्दाश्त नहीं किया जाएगा।

6. मेरे सपनों के नायक के पास शिक्षा की एक स्पष्ट धारणा होगी, जिसके अन्तर्गत इन बातों का ध्यान रखा जाएगाः

   क) हमारे आसपास के संसार का भरपूर उपयोग किया जाए।

   ख) सोचना, समस्याएँ हल करना, समाधान खोजना सीखा जाए।

   ग) सुझाव देने और प्रोत्साहित करने के लिए एक सहयोगी उपलब्ध रहे – और जब चुप रहने की जरूरत हो तब वह चुप रहे।

7. स्वतन्त्रता की बहुत बात की जाती है। मेरा आदर्श नेतृत्व ऐसी स्वतन्त्रता प्रदान करेगा जो लाइसेंस की तरह दी जाने वाली नहीं हो। विकल्प चुनने की स्वतन्त्रता, अपनी स्वाभाविक गति से काम करने की स्वतन्त्रता, जो खुद को आकर्षक लगे वह चुनने की स्वतन्त्रता, बजाय इसके कि "हर व्यक्ति को दो नीली खिड़कियाँ और एक लाल दरवाजा चुनना जरूरी है।"

8. अच्छा नेतृत्व अच्छी शिक्षा सुनिश्चित करेगा, क्योंकि वह निरन्तर मार्गदर्शन करेगा, कार्यशालाएँ, चर्चाएँ आयोजित करेगा, एक शिक्षक के जीवन में आ सकने वाली समस्याओं के व्यक्तिगत समाधानों के लिए समय प्रदान करेगा। नेतृत्व व्यवहार–कुशलता और शिष्टाचार को हितकारी ढंग से इस्तेमाल करना सीखता है ताकि किसी व्यक्ति को जब यह

> *जब हम मूल्यांकन के बारे में सोचते हैं तो हम आमतौर पर बच्चों की रिपोर्ट के बारे में और उनकी सफलता या असफलता के ऐलान के विभिन्न तरीकों के बारे में सोचते हैं। अच्छा नेतृत्व स्कूल का समग्र रूप से मूल्यांकन करता है और स्कूल–परिवार के हर सदस्य को मौका देता है कि वह स्कूल के कार्यक्रम और उसकी सफलता के बारे में अपनी बात कह सके।*

कहा जाता है कि वह गलत कर रहा है तो ऐसा न लगे कि उस पर अभियोग लगाया जा रहा है।

प्रसंगवश, ऐसी कार्यशालाओं और चर्चाओं को प्रधानाचार्य, यहाँ तक कि प्रशासनिक समिति (गवर्निंग काउंसिल) के लिए भी, नेतृत्व–कार्यक्रम का हिस्सा होना चाहिए। मैं वह समय कभी नहीं भूलूँगी जब कलकत्ता में टीचर्स सैन्टर द्वारा चलाए जा रहे टी.टी.सी. रिफ्रेशर कोर्स में एक स्थानीय प्रधानाचार्य यह घोषणा करते हुए शामिल हुए कि आयु का कोई बन्धन नहीं होना चाहिए। वे एक ऐसे नायक का उदाहरण थे जिन्होंने सीखना बन्द नहीं किया था। जिन्हें अपने ज्ञान को ताजा करने का महत्व समझ में आया और जिन्होंने ऐसे लोगों में शामिल होने का समय निकाला जो उनके जैसे उच्च पद पर नहीं थे। यह बात हम सभी को अच्छी लगी।

9. पालक स्कूल के परिवार का अति महत्वपूर्ण हिस्सा होते हैं। वे दिन गए जब रूखे सूचनापट्ट कहते थे, "पालक इस सीमा से आगे न जाएँ"। आज एक आदर्श स्कूल में पालक स्कूल का अंग होते हैं। वे स्कूल के पाठ्यक्रम में किसी खास बात को आगे बढ़ाने के लिए समय और विशेषज्ञता का सहयोग भी दे सकते हैं।

10. हर अच्छे प्रयास के लिए ऐसी नियमित, सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा की जरूरत होती है, जिसमें हम खरी–पूरी सफलताओं का सार प्रस्तुत कर सकें, उन विचारों की चर्चा कर सकें जो लक्ष्य से भटक गए या उस प्रयास की बात हो सके जिसे दोहराने की जरूरत है। जब हम मूल्यांकन के बारे में सोचते हैं तो हम आमतौर पर बच्चों की रिपोर्ट के बारे में और उनकी सफलता या असफलता के ऐलान के विभिन्न तरीकों के बारे में सोचते हैं। अच्छा नेतृत्व स्कूल का समग्र रूप से मूल्यांकन करता है और स्कूल–परिवार के हर सदस्य को मौका देता है कि वह स्कूल के कार्यक्रम और उसकी सफलता के बारे में अपनी बात कह सके।

क्या यह एक सपना है? मैं ऐसा नहीं सोचती। इस सपने को पूरी तरह से साकार करने में समय, प्रयास और निष्ठा लगती है। पर यदि हम अपने किए हुए की समीक्षा नहीं करेंगे तो हम कुछ भी हासिल नहीं कर पाएँगे। मैं रचनात्मक आलोचना की बात कर रही हूँ।

"आलोचना से बचना हो

तो कुछ मत कहो

कुछ मत करो और

कुछ मत बनो।"

मेरा आदर्श नेतृत्व कभी स्वयं को

इस स्थिति में नहीं पाएगा!

आयशा दास 35 वर्षों से एक शिक्षक–प्रशिक्षक हैं। प्राथमिक शिक्षा उनका पहला प्यार है। उनकी विशेष रुचि पठन में है जिसे वे सबसे महत्वपूर्ण मानती हैं। उन्हें लगता है कि इसके बगैर हम बहुत दूर नहीं जा पाएँगे, इसलिए पढ़ना सिखाने का हमारा तरीका सौ प्रतिशत सफल होना आवश्यक है। आयशा दास ने अपना टी.टी.सी. लॉरेटो हाउस से किया और उसके बाद कोलकाता विश्वविद्यालय से बी.ए. किया। फिर उन्होंने यूनिवर्सिटी ऑफ लीड्स् से शिक्षा में डिप्लोमा किया और यूनिवर्सिटी ऑफ मैनचेस्टर से एम.एड.। उनसे ayesha.das@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

22

आदर्श प्राचार्य

जयन्ती जोसेफ

सब स्कूलों के लिए एक 'आदर्श' प्रमुख को परिभाषित कर पाना मुश्किल है। वास्तव में तो आप कह सकते हैं कि ऐसा कुछ होता ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक स्कूल का परिवेश अनोखा होता है; उसमें काम करने वाले विभिन्न व्यक्तियों की अपनी समस्याएँ और क्षमताएँ होती हैं। जिसे हम एक स्कूल के लिए सर्वश्रेष्ठ प्राचार्य मानते हैं, हो सकता है कि वह किसी अन्य स्कूल के लिए बिलकुल अनुपयुक्त हो। ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि अलग–अलग स्कूलों की आवश्यकताएँ अलग–अलग होती हैं, इसलिए उनके 'आदर्श' प्राचार्य भी अलग–अलग होते हैं। कोई स्कूल किस तरह चलता है, इसके पीछे कई कारक काम करते हैं, जिनमें से प्राचार्य भी एक कारक है। इस सन्दर्भ में कि एक स्कूल कैसा है, उसका आर्थिक दर्जा तथा अन्य क्षमताएँ और सीमाएँ (जैसे कि शिक्षकों की उपलब्धता) महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, लेकिन संस्था का प्रमुख तो उसका अभिन्न हिस्सा होता ही है।

ऊपर कही गई बात के बावजूद मैं यह मानती हूँ कि कुछ सामान्य विशेषताएँ ऐसी हैं जो अधिकांश स्कूलों हेतु अधिकतर प्राचार्यों में होनी वांछनीय हैं। किसी संस्था के प्रमुख को स्वभावतः विद्यार्थियों की चिन्ता होनी चाहिए और उसे उनके लिए आसानी से उपलब्ध होना चाहिए। ऐसे प्राचार्य का होना निरर्थक है जिसके पास जाने में संकोच होता हो। क्योंकि प्राचार्य के आगे विद्यार्थी और शिक्षक, दोनों ही अपने सरोकार के मुद्दों को रखने में हिचकिचाएँगे। प्राचार्य को चाहिए कि जब भी जरूरत हो, वह विद्यार्थियों के साथ खुली चर्चा के लिए समय निकाले और उनकी राय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे। उसे लगातार सुधार करने में लगे रहना चाहिए और हर प्रकार के स्रोतों से सुझाव लेने के लिए तैयार रहना चाहिए, चाहे वे अनपेक्षित स्रोत ही क्यों न हों।

मेरी एक प्राचार्य बहुत प्रेरणादायी व्यक्ति थीं क्योंकि वे स्वयं के उदाहरण से सिखाती थीं। वे जो कहती थीं, खुद भी उसका पालन करती थीं। स्कूल मेले के बाद, किसी और से कहने के बजाय वे खुद कचरे की सफाई करना शुरू कर देतीं। वे अपने हाथ मैले करने से घबराती नहीं थीं। इससे बच्चों के भीतर यह समझ पैदा करने में मदद मिलती थी कि कोई भी काम, यहाँ तक कि शौचालय को साफ करना भी, इतना गन्दा या 'निम्न' कोटि का नहीं होता कि आप उसे कर न सकें। मैं बेझिझक उनके पास जाकर कोई भी सवाल कर सकती थी, या स्कूल में चल रही किसी बात को लेकर अपनी चिन्ता व्यक्त कर सकती थी।

> *जहाँ तक सम्भव हो प्राचार्य को शिक्षकों और विद्यार्थियों का दोस्त तथा विश्वसनीय साथी होना चाहिए, पर इसमें अपनी जिम्मेदारियों के साथ सन्तुलन बनाकर चलना भी जरूरी है। उसके लिए स्वेच्छाचारी हुए बिना व्यवस्था को चलाते रह पाना सम्भव होना चाहिए।*

जहाँ तक सम्भव हो प्राचार्य को शिक्षकों और विद्यार्थियों का दोस्त तथा विश्वसनीय साथी होना चाहिए, पर इसमें अपनी जिम्मेदारियों के साथ सन्तुलन बनाकर चलना भी जरूरी है। उसके लिए स्वेच्छाचारी हुए बिना व्यवस्था को चलाते रह पाना सम्भव होना चाहिए। चीजों को व्यवस्थित रखने के लिए प्राचार्य को स्कूल की दिन–प्रतिदिन की गतिविधियों में तथा विद्यार्थी–शिक्षक और शिक्षक–विद्यार्थी की पारस्परिक गतिशीलता में गहराई से शामिल होना चाहिए। ऐसा करने से उसमें सम्भावित समस्याओं के सन्दर्भ की समझ पैदा हो सकेगी। मुझे लगता है कि यह भी बहुत जरूरी है कि प्राचार्य कम से कम एक कक्षा अवश्य पढ़ाए।

शिक्षण का अनुभव उसे दूसरे शिक्षकों के सामने आने वाली सम्भावित समस्याओं को समझने में मदद देगा। स्कूल की मेरी कुछ सबसे यादगार स्मृतियाँ जीवविज्ञान, रसायन शास्त्र, भौतिकी और गणित की अभिनव कक्षाओं की हैं। ये सभी प्राचार्य द्वारा ली गई थीं और ये केवल कुछ ही उदाहरण हैं।

प्रत्येक शिक्षक का अपना अलग व्यक्तित्व और शिक्षण शैली थी, और जब मैं छोटी थी मेरे स्कूल की प्राचार्य के बारे में मेरी समझ इस रूप में थी कि वह एक ऐसी शिक्षक हैं जो कार्यालय में भी थोड़ा काम कर लेती हैं। उस स्कूल में बिताए अपने आठ या नौ सालों में उन्होंने मुझे कई प्रकार से प्रेरित किया। उनके माध्यम से ही मैंने चिड़ियों को देखने, प्रकृति में घूमने और पेड़ों पर चढ़ने के आनन्द को पाया। उनमें खुश रहने की, मजाक करने की कमाल की कला थी। हालाँकि कभी–कभी वे डाँटती भी थीं। मेरे विचार में वे वाकई उतनी कठोर थीं नहीं जितना कि वे हमें महसूस करवाती थीं।

किसी भी स्कूल के विद्यार्थी, शिक्षक और प्राचार्य के बीच आपसी सम्मान की भावना होनी चाहिए। उनका अपेक्षाकृत समान दर्जा होना चाहिए। छोटी कक्षाओं में यह ज्यादा सम्भव होगा। समानता, या कम से कम उसका कुछ भान, होना बहुत जरूरी है। यदि लोगों

को यह महसूस होता है कि जो कुछ भी उन्हें प्रभावित करता है, उसमें उनका कुछ दखल है, तो सम्भवतः किसी भी नए बदलाव को लेकर उनकी घबराहट कम हो जाएगी। यह 'ताकत' वास्तविक और ठोस होनी चाहिए। यदि कोई विद्यार्थी या शिक्षक, स्कूल की किसी बात से सन्तुष्ट नहीं है तो उसके पास संस्था के प्रमुख के समक्ष अपनी चिन्ता खुलकर व्यक्त करने की आजादी होनी चाहिए और समस्या के प्रति 'वाकई' कुछ कर सकने की छूट भी।

किसी भी स्कूल में एक खास हद तक जवाबदेही और पारदर्शिता का होना जरूरी है। इसकी शुरुआत प्राचार्य से होनी चाहिए। स्कूल और अधिक लोकतान्त्रिक हो सकते हैं – इससे न केवल विद्यार्थी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया और उसके महत्व से अवगत हो पाएँगे, बल्कि अबाध गति से आगे बढ़ाने में भी मदद मिलेगी। लम्बे दौर में यह सम्भवतः सभी के लिए अच्छा साबित होगा। विद्यार्थी–समूह और शिक्षक मिलकर नियमों पर चर्चा कर सकते हैं और निर्णय ले सकते हैं। विद्यार्थी इस प्रक्रिया के अभ्यस्त हो जाएँ और उनमें आवश्यक परिपक्वता हो, तो वे नियमों के महत्व को समझेंगे और बहुत सम्भव है कि उन्हें बहुत से नियम–कायदों की जरूरत ही न पड़े! लेकिन मौजूदा सीमाओं को स्पष्ट किया जाना बहुत जरूरी है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के माध्यम से शिक्षकों, विद्यार्थियों और स्कूल से सम्बद्ध बाकी लोगों के बीच अक्सर पनप जाने वाले तनाव को घटाया जा सकता है। इसकी अपनी समस्याएँ होती हैं, पर यदि स्कूल के सदस्य निष्पक्ष और पूर्वाग्रह रहित रहें तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था किसी भी संस्था के लिए चमत्कारी साबित हो सकती है। हमें संस्था के अन्दर भ्रष्टाचार को पनपने से रोकना होगा। जैसा कि मैंने पहले कहा है, संस्था के कामकाज में कुछ हद तक पारदर्शिता का होना बहुत जरूरी है। तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थों को स्कूल की प्रगति के रास्ते में नहीं आने देना चाहिए। स्पष्टवादिता, परिपक्वता और ईमानदारी अनिवार्य हैं।

अन्त में, प्राचार्य और वित्तीय प्रशासन को निष्ठावान होना चाहिए। उन्हें विद्यार्थी, स्कूल और समाज की भलाई को अपने आर्थिक लाभ से ऊपर रखना चाहिए। प्राचार्य को उन लोगों को दाखिला लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए जो स्कूल की सोच से इत्तेफाक रखते हों। उसे किसी को भी अनुचित रूप से फायदा पहुँचाने से बचना चाहिए। लाभ के लिए स्कूल चलाने का विचार गलत मालूम पड़ता है। स्कूल और उसके प्राचार्य का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों को सर्वश्रेष्ठ सम्भव शिक्षा प्रदान करें। बच्चों और शिक्षकों की प्रगति प्राचार्य की सबसे प्रमुख चिन्ता होनी चाहिए। सबसे अधिक ध्यान इसी बात पर होना चाहिए कि विद्यार्थियों के लिए सबसे अच्छा क्या होगा।

निष्कर्ष यह, कि प्रत्येक स्कूल का प्राचार्य विभिन्न आदर्शों और व्यक्ति विशेष का साकार रूप होता है। उसे स्कूल के कामकाज में तो शामिल रहना ही चाहिए, स्कूली समुदाय के पारस्परिक सम्बन्धों की गतिशीलता के साथ भी निकटता से जुड़े रहना चाहिए। किसी स्कूल–प्रमुख को उस स्कूली समुदाय का सच्चा सदस्य होना चाहिए तथा बाकी सभी सदस्यों को बराबर सम्मान देना चाहिए। अलग–अलग स्कूलों की जरूरतें बिलकुल भिन्न हो सकती हैं और आमतौर पर वे निरन्तर बदलती रहती हैं। यह छोटा–सा तथ्य ही परिपूर्ण या आदर्श प्राचार्य को परिभाषित करने के कार्य को वाकई में पेचीदा और मुश्किल बना देता है।

जयन्ती जोसेफ माल्या अदिति इण्टरनेशनल स्कूल में ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ती हैं। वे चौथी से दसवीं कक्षा तक पूर्णा लर्निंग सैन्टर में पढ़ी हैं। पूर्णा में ही जीवविज्ञान की कक्षाओं में शिक्षक की सहायता करते वक्त उन्हें शिक्षण के लिए अपने लगाव का आभास हुआ। संगीत के प्रति गहरा जुनून रखने वाली जयन्ती वायलिन और पिआनो बजाती हैं। वे बंगलौर स्कूल ऑफ म्यूजिक (बी.एस.एम.) के जूनियर और चेम्बर ऑर्केस्ट्रा की सदस्य हैं। गोवा तथा चेन्नई सहित कई अन्य जगहों पर आयोजित संगीत के कार्यक्रमों में उन्होंने बी.एस.एम. चेम्बर ऑर्केस्ट्रा के साथ भाग लिया है। वे संगीत, जैविक शोध और शिक्षा के क्षेत्रों में केरियर बनाना चाहती हैं। उनसे jj.iris.oregon@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

23 स्कूल प्रमुख के रूप में प्राचार्यः एक विद्यार्थी की दृष्टि से

रजनी द्विवेदी

स्कूल! जब भी मैं स्कूल के अपने दिनों के बारे में सोचती हूँ, तो मुझे अपने दोस्तों की याद आ जाती है – उनके साथ खेलना, शरारतें करना और उनके साथ रहने में आने वाला सहज सुख और आनन्द। मैं याद करती हूँ मुझे पढ़ाने वाले शिक्षकों को, पुस्तकालय की किताबों को, स्कूल की पढ़ाई–लिखाई और खेल–कूद को तथा और भी कई बातों को। बहुत से अन्य लोगों की तरह, बचपन और स्कूल मेरी सबसे प्यारी और सबसे स्पष्ट यादों का हिस्सा हैं। स्कूल के अपने बाद के सालों और कॉलेज के वर्षों के बहुत सारे शिक्षकों के बारे में मेरी खूबसूरत यादें हैं। यह बात शायद हममें से कइयों के लिए सही है। लेकिन जब मैं स्कूल के बारे में सोचती हूँ तो दिमाग पर सबसे अधिक असर हमारे प्राचार्य या, जैसा कि हम उन्हें कहते थे, प्रिंसिपल सर का पड़ता है।

मैं और मेरे संगी–साथी अपनी पढ़ाई और ऊपर उल्लिखित विभिन्न अन्य गतिविधियों में लगे रहते थे। हमारे पास बहुत स्वतन्त्रता रहती थी। हम अपने शिक्षकों से बात कर सकते थे और बहुत बार जो मर्जी होती, वह करते थे।

फिर एक दिन हमने एक नए, अनजान व्यक्ति को स्कूल के बरामदों में घूमते देखा। हम सोच में पड़ गए कि वे कौन हो सकते हैं। वे किसी पालक जैसे तो नहीं दिख रहे थे और हमें यह पता था कि वे स्कूल के कोई शिक्षक नहीं हैं। पर वे किसी भी तरह से प्रभाव डालने वाले या डर पैदा करने वाले नहीं प्रतीत हो रहे थे। वे स्कूल के बरामदों में घूमते किसी भी बड़ी उम्र के अन्य व्यक्ति की तरह लग रहे थे।

हमने कुछ देर तक आपस में उनके बारे में चर्चा की, लेकिन किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सके और फिर भूल गए। हमारी जिज्ञासा बहुत अधिक समय तक रहने वाली नहीं थी क्योंकि हमारे पास करने को और बहुत कुछ रोचक था। पर अगली सुबह प्रार्थना सभा में हमारी प्रधान शिक्षिका ने उन सज्जन से हम सबका परिचय करवाया और बताया कि वे हमारे नए प्राचार्य हैं। हमारे पूर्व प्राचार्य छः महीने पहले सेवानिवृत्त हो चुके थे। लेकिन प्राचार्य के बारे में हमारी धारणा अभी भी उन्हीं पर आधारित थी। तो हमारे दिमाग में वही छवि थी और हमें नए प्राचार्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन पाने की आशा नहीं थी।

धीरे–धीरे हम अपने नए प्राचार्य को और अधिक जानने लगे। स्कूल में अपनी नित्य दिनचर्या के दौरान अक्सर उनसे यहाँ–वहाँ हमारी भेंट हो जाती। शुरुआत में हमें लगता, ओह! प्राचार्य आ रहे हैं, हम रास्ते से हट जाते हैं। वे तो बहुत व्यस्त होंगे और उनके दिमाग पर बहुत कुछ सवार होगा। उनके पास हम पर बरबाद करने को समय कहाँ है। उन्हें हमारी जरूरत ही कहाँ है। और – ऐसा क्या होगा जिसके बारे में वे हमसे बात करना चाहें। हम इस बात से हैरान होते थे कि जब भी हम आमने–सामने आ जाते, तो वे रुककर हमसे बात करते। यह केवल एक या दो बार नहीं हुआ बल्कि तकरीबन हमेशा ही ऐसा होता था। कभी–कभी वे हमें सुबह की प्रार्थना सभा में रोक लेते, कभी खेल–मैदान में हमसे बात करते। उनके पास हमेशा ही हमसे बात करने के लिए समय होता था; लगता था कि उनके पास इससे ज्यादा जरूरी और कोई काम नहीं है।

हम अक्सर उन्हें हाल–चाल जानने के लिए होस्टल की ओर जाता देखते और रास्ते में वे बच्चों से बात करते जाते। जल्दी ही मुझे समझ में आ गया कि वे ऐसा सिर्फ हम कुछ बच्चों के साथ ही नहीं करते थे बल्कि वे तो सभी बच्चों के साथ बात करते थे। सभी बच्चों को लगता था कि वे प्राचार्य को व्यक्तिगत तौर पर जानते हैं और प्राचार्य उनसे बहुत स्नेह करते हैं। बल्कि, अक्सर ही अन्तिम घण्टी के बाद बच्चे जब कक्षाओं से बाहर निकलते तो उन्हें रास्ते में इन्तजार करता हुआ पाते और फिर वे बच्चों से विभिन्न चीजों के बारे में तथा स्कूल में उनके अनुभवों के बारे में बात करने लगते। वे हमारे बारे में ही बात करते थे – हम किस बारे में सोच रहे होते, हमारे सपने क्या थे आदि। वे हमसे पूछते कि कक्षाओं में हमें कैसा लगता है, हम किन बातों से डरते हैं और हमारे पसन्दीदा विषय क्या हैं, इत्यादि। वे तात्कालिक राजनीतिक–सामाजिक परिस्थिति पर परिहास भी कर दिया करते थे। उन्होंने खेलों में हमारी दिलचस्पी को बढ़ावा दिया और वे हमसे पूछते थे कि भारत की फुटबॉल टीम के लिए कैसे आसार दिखाई देते हैं? ऐसा लगता था कि वे हमारा ध्यान क्रिकेट से हटाकर दूसरे खेलों में लगाना चाहते हैं। वे किसी आम स्कूल प्राचार्य से काफी अलग थे; निश्चित ही प्राचार्य की हमारी धारणा के तो बिलकुल विपरीत थे।

उनसे बात करने पर शुरुआत में हमें जो भय और हिचक होती थी वह धीरे–धीरे हवा हो गई, और हमारे वार्तालाप काफी स्वाभाविक हो गए। हमें यह इच्छा रहती थी कि वे हमसे टकरा जाएँ और फिर बातें करें। पर फिर भी जब हमसे कोई गलती हो जाती थी या कोई नियम टूट जाता था तो हम उनके सामने जाने से बचते थे। हमें लगता कि चूँकि हमसे गलती हुई है अतः कोई न कोई दण्ड तो हमें

सभी बच्चों को लगता था कि वे प्राचार्य को व्यक्तिगत तौर पर जानते हैं और प्राचार्य उनसे बहुत स्नेह करते हैं। बल्कि, अक्सर ही अन्तिम घण्टी के बाद बच्चे जब कक्षाओं से बाहर निकलते तो उन्हें रास्ते में इन्तजार करता हुआ पाते और फिर वे बच्चों से विभिन्न चीजों के बारे में तथा स्कूल में उनके अनुभवों के बारे में बात करने लगते।

जरूर मिलेगा, जिससे हम सभी के समक्ष अपमानित और निन्दित महसूस करेंगे। हमें डाँटे–डपटे जाने और जुर्माना लगाए जाने की आदत थी। लेकिन जब हमें ऐसा लगने लगा कि हमारी उनके साथ मित्रता–सी हो गई है, तो हमारा डर जाता रहा। हमें लगा कि अब कोई दण्ड नहीं मिला करेगा। पर ऐसा नहीं था। वे गलतियों की ओर ध्यान दिलाने के मामले में बहुत सख्त थे। लेकिन उनका दण्ड अनोखा हुआ करता था। गलती करने वाले को या तो कक्षा की, या फिर खेल–मैदान की सफाई करनी पड़ती थी, या फिर स्कूल–भोजनालय में बर्तन साफ करने पड़ते थे। कई बच्चे विनती करते थे, "सर, इसके बजाय कृपया हम पर जुर्माना लगा दीजिए। हम आइन्दा ऐसा नहीं करेंगे।" वे नहीं मानते थे और कहते, "जुर्माना तुम नहीं भरते, तुम्हारे माता–पिता भरते हैं। गलती तुमसे हुई, अतः भुगतान भी तुम्हें ही करना पड़ेगा। चूँकि गलती तुमने की है, अतः दण्ड भी तुम्हें ही भुगतना चाहिए।"

धीरे–धीरे उनके कारण स्कूल में कुछ बातें अलग लगने लगीं। हम सब एवं शिक्षकगण समय के बेहद पाबन्द हो गए, सभी कक्षाएँ लगती थीं और ठीक समय पर शुरू होती थीं। और क्यों न होतीं। प्राचार्य हमेशा ही बाकी सबसे पहले स्कूल पहुँच जाते और सबसे अन्त में जाते थे। उन्हें स्कूल के बारे में सब कुछ पता था। क्या कहाँ पर है, क्या हो रहा है – कहाँ और कब, कौन किस बात के लिए जिम्मेदार है और उसे कैसी मदद की जरूरत है। उन्हें न सिर्फ यह सब पता था बल्कि यह भी मालूम था कि समर्थन कैसे जुटाना है, लोगों में कैसे मूल्यवान होने का अहसास जगाना है, और यह कि स्कूल तथा प्राचार्य उनकी सहायता के लिए सदैव तत्पर हैं।

किसी प्राचार्य की जिम्मेदारियाँ क्या होती हैं? उन्हें इसका पूरा भान था कि स्कूल की, शिक्षकों की और उनके विद्यार्थियों की क्या जरूरतें हैं या वे क्या चाहते हैं। उनके पास इन सबके अधिकारों के लिए किसी से भी जूझने की क्षमता और पक्का इरादा था। यदि वे चाहते तो स्कूल में किसी को कम और किसी को अधिक समझते हुए पदानुक्रम व्यवस्था लागू कर सकते थे क्योंकि प्राचार्य सभी प्रकार के निर्णय खुद लेने के लिए अधिकृत होता है, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। न केवल बच्चों, शिक्षकों, और बच्चों के पालकों के साथ बल्कि स्कूल के सभी लोगों के साथ उनका सम्बन्ध और व्यवहार मित्रवत तथा स्वाभाविक था। वे अटल प्रवृत्ति के थे और किसी तरह की गैर–जिम्मेदारी और प्रतिबद्धता–रहित रवैये से समझौता करने वाले नहीं थे। मगर उनके हस्तक्षेप का ढंग इतना अलग और अभिनव था कि आपको यह नहीं लगता था कि ठीक काम न करने के कारण आपकी खिंचाई की गई है। बल्कि लगता था कि आपको मशविरा दिया जा रहा है, आपके काम की प्रशंसा की जा रही है तथा और बेहतर करने के लिए प्रेरित किया जा रहा है।

वे बेहद ऊर्जावान और चुस्त थे। एक पल उन्हें यहाँ देखा जाता और अगले ही पल कहीं और। हर बात उन्हें याद रहती थी। वे बहुत जल्दी निर्णय लेते थे और उन्होंने स्कूल के विकास के लिए कई कदम उठाए। यह सब लिखते हुए मैं न केवल उनके साथ हुए तमाम अनुभवों को याद कर रही हूँ बल्कि मैं उनका विश्लेषण भी कर रही हूँ, लेकिन जब हम बच्चे थे तब हम उनके बारे में बात करते वक्त बस यही कहते थे कि "हमारे सर अद्‌भुत हैं।"

मुझे प्राचार्यों की श्रेणी से सम्बद्ध अधिक जानकारी नहीं है – आप हमारे प्राचार्य को ऐसी श्रेणी में कहाँ रखेंगे और उनके किन लक्षणों को किसी अच्छे प्राचार्य की विशेषताओं के रूप में शुमार करेंगे, यह भी मैं शायद नहीं कह सकती। लेकिन यह तो तय है कि हम उनके रहते बहुत खुला और सुरक्षित महसूस करते थे। सब कुछ अधिक सुगम प्रतीत होता था। हम स्कूल से गायब नहीं रह सकते थे, उतनी शरारतें भी नहीं कर सकते थे। लेकिन फिर भी बहुत स्वतन्त्र महसूस करते थे। बहुत स्पष्ट था कि स्कूल की इस बेहतरी में उनका बहुत बड़ा हाथ था और शिक्षक उनका बहुत आदर करते थे। वे वाकई में उनके अगुआ थे। मुझे अब भी आश्चर्य होता है कि वे यह सब कर पाए और सभी पर सकारात्मक असर छोड़ पाए। क्या उनका व्यक्तित्व ही करिश्माई था या फिर वे जो भी करते थे उसके पीछे एक सोचा–समझा तरीका था जिससे हम कुछ सिद्धान्त हासिल कर सकते हैं?

मैं अकसर सोचती हूँ कि प्राचार्यों के बारे में तथा स्कूली नेतृत्व को लेकर चर्चा करते समय हम विद्यार्थियों के दृष्टिकोण के बारे में भूल ही जाते हैं और इस बात को अनदेखा कर देते हैं कि वे अपने प्राचार्य को किस दृष्टि से देखते हैं। मैंने बहुत अच्छे ढंग से चलने वाले ऐसे सुप्रबन्धित स्कूल भी देखे हैं जिनके प्राचार्य औपचारिक, दूरी बनाकर रखने वाले और एक तरह का डर पैदा करने वाले थे। पर हमारे प्राचार्य की याद आज भी मन में ताजा है क्योंकि वे हम सबके बहुत करीब थे। मैं यह पक्के तौर पर नहीं कह सकती कि बाकी सभी वयस्क भी उन्हें उसी तरह देखते थे जैसे कि हम; न ही मैं पक्के तौर पर यह कह सकती हूँ कि उन्होंने जो किया, उससे वह स्कूल श्रेष्ठतम सम्भावित स्कूल बन गया। लेकिन हमारे लिए तो वे हमेशा ही एक प्रेरणास्रोत और मित्र की तरह बने रहेंगे।

रजनी द्विवेदी वर्तमान में छत्तीसगढ़ एजुकेशन रिसोर्स सैन्टर (विद्या भवन सोसायटी का एक सहयोगी संगठन) के साथ काम कर रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में अपने छः साल के अनुभव में उन्होंने बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड और राजस्थान राज्य–दलों के साथ मुख्यतः शिक्षक–प्रशिक्षण और पाठ्यपुस्तक–निर्माण का कार्य किया है। उनसे rajni@vidyabhawan.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

24 ऊँची कुर्सी, इतनी ऊँची

नीरजा राघवन

'आओ इस कुर्सी पर चढ़ जाओ'
एक दिन, जीवन ने मुझसे कहा,
'और, ऊपर से चारों ओर का
निरीक्षण करो, नजर पहुँचे जहाँ।'

शायद यह बहुत ज्यादा ऊँची है
अफसोस कि मैं नहीं उतनी लम्बी,
झिझकते हुए मैं कोशिश करूँगी
पर गिर न जाऊँ, है यह डर भी!'

उसने सन्देह भरे शब्द मेरे सुने
जीवन बिलकुल नहीं डगमगाया,
बल्कि उसने हाथ बढ़ाया आगे
भय, बदल आशा में दूर भगाया।

लिए सुन्दरता, अपने में समाए
स्नेह की ऊष्मा और अच्छाई,
ऊँची लगने वाली वह कुर्सी
खिसक नीचे कुछ पास आई।

बात अजब थी पर उस ढंग में
कुर्सी कुछ खिसक–सी जाती,
अक्सर ऊँचाई बदलती जाती
ऐसी कि मैं लड़खड़ा ही जाती!

लगने लगता जैसे ही मुझे
सहज हो गई मैं कुर्सी में,
टाँगें उसकी धसने लगतीं
हलचल मचती मेरे पेट में।

जैसे ही कुर्सी से उतरती
आसपास के लोग सभी,
तत्काल मुझे वापिस बैठाते
और फिर सवाल करते वही।

'कैसे हमसे यूँ बात करती हो
बैठकर कुर्सी की गरमाई से?
समझे थे तुम हममें से ही हो
कब नीचे आओगी ऊँचाई से?'

मैं करती उन्हें आश्वस्त
चाहती हूँ भला तुम्हारा,
पर जो बैठेगा कुर्सी पर
चाहेगा वह जवाब तुम्हारा!

'पर हमें नहीं है आदत इसकी'
गुस्साई आँखों से उत्तर आता,
'जब तक बैठी रहोगी कुर्सी पर
काम साथ तुम्हारे नहीं हो पाता।'

झट उतर आती कुर्सी से
मैं फुर्ती से और मुस्कराती,
लेकिन चीजों को ठीक न पाती
सारी व्यवस्था बिखर सी जाती।

तब धैर्य और जोश लिए मैं
फिर कुर्सी पर लौट जाती,
कोशिश करती हर प्रकार
कठोर होने से सकुचाती।

माथे पर बल, कन्धे उचकाना
कुर्सी है ऊँची, आँख घुमाना,
होते ही अहसास इस सबका
झुँझलाहट को परे धकियाना।

हो गई रोज की इक कसरत
गोया मैं हूँ जिम में हर वक्त,
भीतरी पेशियाँ हो गईं चुस्त
तेवर हुए जैसे नर्म–ओ–सुस्त!

लेकिन लहजे में हल्की सी चूक
दिन के अन्त में गर हो जाती,
बस जरा सी यह फिसलन भर
पूरे किए पर पानी फिरा जाती।

'कड़क, कठोर और बदमिजाज है!'
लहराती हवाएँ जैसे गाने लगतीं,
'क्यों उसकी मनमर्जी सहें हम?
क्यों वह लाए साथ में सख्ती?'

'नर्म , कोमल घास–सी हमारी
भावनाओं को ठेस मत पहुँचाओ,
गुजरना हो इधर से गर तुम्हें
बोलो तभी, ध्यान हमारा लाओ।'

'हम नहीं देंगे तुमको वह जो
कुर्सी पे चढ़ तुम हो माँगती,
हमारे भी हैं कुछ तो ख्यालात
बेहतर होगा, रहो तुम जानती!'

'हमारे जज्बात का करो लिहाज
प्रेमपूर्वक और नरमाई के साथ ,
तब शायद हम धीरे–धीरे हों
एकत्र तुम्हारी कुर्सी के पास।'

'पर जो तुमने एक बार भी
शब्दों से पहुँचाई हमें चोट,
समझो तुम रहोगी अकेली
देंगे तुम्हारे खिलाफ वोट।'

'नहीं सुनोगी हँसी हमारी
गायब रहेगी मुस्कान सारी,
इन्तजार करोगी देर तक
और राह तकोगी हमारी। '

मैं चुपचाप ले अपना स्थान
थाम बैठती आशा की धुरी,
अपनी गति धीमी करने से
गर फैले शान्ति और खुशी।

कुर्सी फिर मुझे सहलाती
देखने को यह उकसाती,
शान्ति और हिलमिलकर काम
की स्थिति क्यों नहीं बन पाती?

अपनी तलवारें रखकर अलग
इक को दूजे से मिले मदद,
इस मकसद से कुर्सी पर बैठती
मैं माँ की भूमिका में एक अदद।

तो देखा आपने कैसे, मैं ऊँची
कुर्सी पर चढ़ती, रही उतरती,
अब निकल आई हूँ दूर इतनी
कि कुर्सी गई है बिखर–सी ।

कोई नहीं जानता क्या कोशिशें
की बैठाने को मैंने पटरी सही,
पर मेरा बढ़ता धीरज कहता है
कि फर्क इससे पड़ता कुछ नहीं।

जीवन समझदारी से हो भरा
ऊँची कुर्सी में रखा है क्या?
मैंने कोशिश जोश से की है,
यही सच है, अब होने दो बयाँ ।

●●●

(मूल अँग्रेजी कविता का हिन्दी रूपान्तरण : राजेश उत्साही)

नीरजा राघवन अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी रिसोर्स सैन्टर, बंगलौर में एकेडमिक्स एण्ड पैडागॉजी टीम की सलाहकार हैं। यह कविता उन्होंने तब लिखी जब एक आवासीय स्कूल की वाइस–प्रिंसिपल और फिर प्रिंसिपल के रूप में दो वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के बाद उसे छोड़ने का निर्णय लिया। उन्हें लगा कि प्रशासन उनकी अभिरुचि के अनुकूल नहीं है, इसलिए वे उसे छोड़कर शैक्षणिक सलाहकार और स्वतन्त्र लेखिका बन गईं। उनसे neeraja@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

●●●

25 अपनी प्रधानाध्यापिका को मेरी श्रद्धांजलि

कल्याणी राजारमन

कभी–कभी मेरा मन भटकता हुआ बीते समय में जा पहुँचता है और मेरे शानदार स्कूल की आनन्द भरी स्मृतियाँ मेरे लिए ताजा हो जाती हैं। लेडी शिवस्वामी अय्यर गर्ल्स हायर सैकेण्डरी स्कूल, माइलापुर, चेन्नई में मैंने छठी से बारहवीं कक्षा तक की पढ़ाई की। इस स्कूल का नेतृत्व एक प्रेरणादायी प्रधानाध्यपिका करती थीं। स्कूल का एक सामान्य दिन, खेल–दिवस, प्रदर्शनियाँ, सेवा–संगम गतिविधियाँ, मध्यान्ह भोजन, चिकित्सा शिविर, स्कूल का वार्षिक–दिवस, प्रतिस्पर्धाएँ, समर्पित शिक्षक और इन सबकी यादों से बढ़कर मेरी प्रधानाध्यापिका सत्यभामा जी की यादें हैं।

मेरे लिए मेरी प्रधानाध्यापिका बहुत खास थीं। हमें उनकी कक्षाओं की जबरदस्त चाह रहती थी। जब मैं दसवीं में थी, तो उन्होंने हमें एक अँग्रेजी कविता पढ़ाई। वे उस साल केवल दो बार हमारी कक्षा में आई थीं और सिर्फ एक कविता पूरी कर सकी थीं। उनके द्वारा ली गई दोनों कक्षाएँ बहुत जीवन्त थीं। उन्होंने हमें व्यावहारिक उदाहरण देते हुए प्रत्येक शब्द का अर्थ समझाया। मुझे अभी भी याद है कि किस तरह उन्होंने हमें 'चाइल्डिश' (बचकाना) और 'चाइल्ड–लाइक' (बाल जैसा) के बीच का अन्तर समझाया था और हमसे पूछा था कि हम क्या कहलाना पसन्द करेंगे – चाइल्डिश या चाइल्ड–लाइक? वह कक्षा 40 मिनट से अधिक समय के लिए चली थी। पूरे बरामदे में खामोशी थी। प्रधानाध्यापिका दोपहर के भोजन का समय हो जाने के बाद भी क्लास ले रही थीं, लेकिन किसी ने शोर मचाने का दुस्साहस नहीं किया था। सन्नाटे का कारण डर नहीं, बल्कि प्रधानाध्यापिका के प्रति सम्मान था।

प्रत्येक सोमवार, हमारे यहाँ झण्डा फहराने का कार्यक्रम हुआ करता था और प्रत्येक कक्षा बारी–बारी से राष्ट्रीय ध्वज फहराती थी। एक सोमवार, हमारी कक्षा की बारी थी और हम राष्ट्रगान गाते वक्त गलतियाँ कर गए। बड़ी शिष्टता के साथ उन्होंने हमें रोका, अर्थ समझाया, और प्रेरित किया कि हम फिर से जोश के साथ बिना गलती किए गाएँ।

उन दिनों हमारे स्कूल में कोई शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। हमें नैतिक विज्ञान (मॉरल साइंस) की कक्षा में सुन्दर कहानियों के माध्यम से नैतिक मूल्य पढ़ाए जाते थे। हमारे स्कूल में ब्लू क्रॉस, रेड क्रॉस और सेवा–संगम की इकाइयाँ थीं और ये सब बच्चों को आगे आने वाले जीवन के लिए अलग–अलग ढंग से तैयार करती थीं।

उनका खुशनुमा, मुस्कुराता चेहरा, साफ–सुथरी सूती साड़ी और उनकी सादगी आज भी मुझे प्रेरित करते हैं! मैंने उन्हें अधिकांश समय सिटी बस से यात्रा करते देखा है। मुझे यह कहते हुए बड़ा गर्व हो रहा है कि मेरे सभी मित्रों ने हमारे शानदार स्कूल तथा अद्‌भुत प्रधानाध्यापिका की वजह से अपने जीवन में अच्छा मुकाम हासिल कर लिया है। मुझे नहीं लगता कि मैंने आज तक अपने जीवन में इतना बेहतरीन इन्सान और इतनी प्रेरणादायी शिक्षिका देखी है।

ये यादें मेरे मन में उसी आनन्द का भाव जगाती हैं जिसका चित्रण विलियम वर्डस्वर्थ ने अपनी कविता 'डैफोडिल्स' में किया है:

अकसर जब शून्य
या मनन की मुद्रा में,
मैं अपने पलंग पर होता हूँ,
इक पल को उनकी वही चमक
मन–दृष्टि पर छा जाती है,
और यही एकान्त का परमआनन्द है;
तब मेरा हृदय सुख से भर जाता है,
डैफोडिल फूलों के साथ।
वह नृत्य करने लगता है।

सम्पादकीय टिप्पणी

यह लेख लेडी शिवस्वामी अय्यर गर्ल्स हायर सैकेण्डरी स्कूल, माइलापुर, चेन्नई की प्राचार्य श्रीमती सत्यभामा के सम्मान में लिखा गया है। लेखिका उनकी विद्यार्थी थीं।

26 अनुभव : अध्यापन से प्रबन्धन तक

रेणु श्रीनिवासन

पिछले दो दशकों में अपने जीवन में आए मील के पत्थरों पर जब मैं अपने विचार लिखने बैठी तो मेरा मन अतीत की यादों में खो गया और अनेकानेक भाव और विचार उठने लगे। ये क्या हैं? मैंने अनेक खुशियों और दुखों, आशा और निराशा, विफलता और रोमांच और ऐसी अन्य विपरीत अनुभूतियों का अनुभव किया है। अनुभव तो और भी विविध प्रकार के रहे हैं, और हर नए अनुभव के साथ मैं जीवन की कभी चिकनी सपाट, कभी ऊबड़–खाबड़ और कभी घुमावदार, हिचकोले खाती राहों पर चलती रही। मैं कुछ क्षेत्रों में सीखे अपने सबक सबके साथ बाँटना चाहूँगी।

अतीत से...

1990 – मेरे अध्यापन कार्य की शुरुआत! मुझे यह सोचकर बहुत खुशी होती है कि तब से मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

2003 – दो हजार से भी अधिक विद्यार्थियों वाले स्कूल की प्रमुख बनने का अवसर। उसके बाद पिछले दो साल से बंगलौर में एक वैकल्पिक स्कूल *पूर्णा* की प्रमुख के रूप में मेरा वर्तमान कार्यकाल।

1990 और 2003 के बीच मुझे दिल्ली, कोलकाता और बंगलौर के स्कूलों में पढ़ाने का अवसर मिला; इसके साथ ही मैं शिक्षक–प्रशिक्षक भी रही हूँ। शिक्षक के रूप में भी मुझे अतिरिक्त प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ – जैसे कि परीक्षा विभाग का संचालन करना, बाहर के शैक्षणिक दौरों की व्यवस्था करना, छात्र सदन (हाउस) की व्यवस्थापिका होना, आदि – को निभाने में आनन्द आया है। वर्तमान में *पूर्णा* में अपनी पूर्णकालिक जिम्मेदारियों को निभाने के अलावा मैं मृदु कौशलों (सॉफ्ट स्किल्स) के प्रशिक्षक के रूप में देशभर में फैले कुछ स्कूलों का दौरा करती रहती हूँ।

पाँच स्कूलों में काम कर चुकने के बाद मैंने पाया कि देशभर के स्कूलों में उतनी ही समानताएँ हैं जितनी उनकी अपनी विशिष्टताएँ हैं। सभी में मानवीय सम्बन्धों की जटिलता, सभी भागीदारों (बच्चे, माता–पिता, शिक्षक और प्रबन्धक) के पारस्परिक क्रियाकलाप और मुद्दे समान होते हैं। फिर भी, हर संस्था अनोखी होती है – जिसका कारण हर व्यक्ति की अपनी विशिष्टता होती है, चाहे वह शिक्षक हो या विद्यार्थी, पालक हो या संचालन व्यवस्था का सदस्य हो। मैं इस लेख में तीन क्षेत्रों – शिक्षक से प्रबन्धक तक, तकनीकी आविष्कारों के साथ चलना, और पारम्परिक व्यवस्था से वैकल्पिक व्यवस्था में स्थानान्तरण – में अपने अनुभवों को बाँटना चाहूँगी।

शिक्षक से प्रबन्धक बनना

कुछ सालों तक शिक्षक–प्रशिक्षक रहने के कारण मैं शैक्षणिक प्रशासन के क्षेत्र में जाने की सम्भावना तलाश करने लगी। जब मैंने 2000 बच्चों और 150 शिक्षक एवं कर्मचारियों वाली संस्था की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली तब मुझे सामने आने वाली स्थितियों का बहुत कम अन्दाज था। आज जब मैं पीछे देखती हूँ तो मुझे अहसास होता है कि प्राचार्य को विविध प्रकार के अनेक कार्यों और कर्तव्यों को निभाना पड़ता है।

- **सिर्फ अपने कामों की ही नहीं बल्कि अपने सहयोगी दल के कामों की भी जिम्मेदारी लेना** : किसी की शिकायत करने की कोई गुंजाइश नहीं होती। यह बहुत जरूरी है कि किसी भी मुद्दे का पहले समाधान किया जाए और बाद में विस्तार से पता किया जाए कि गड़बड़ी कहाँ हुई थी। मैंने अपने कार्यों के बारे में रक्षात्मक होना छोड़ दिया है; अब मैं लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुनती हूँ, विशेषकर अच्छी न लगने वाली प्रतिक्रियाएँ, क्योंकि यही किसी संस्था के बढ़ने में सहायक होता है। जैसा कि कॉर्पोरेट संसार में लोग कहते हैं, एक मौन ग्राहक की बजाय शिकायत करने वाला ग्राहक बेहतर होता है! आलोचनात्मक प्रतिक्रियाएँ निश्चित रूप से हमें सोचने के लिए बहुत–सा मसाला और काम करने के लिए बहुत मौके प्रदान करती हैं।

- **स्वयं करना या दूसरों को काम सौंपना** : पहले मुझे अकसर लगता था कि किसी निर्धारित काम को किसी सहयोगी को सौंपने की बजाय उसे स्वयं पूरा करना ज्यादा आसान होता है। जब मैं पिछले सात वर्षों से भी अधिक के समय पर नजर डालती हूँ तो पाती हूँ कि मेरा अनुभव विविध प्रकार का और समझ को समृद्ध बनाने वाला रहा है। मुझे एक खेलकूद प्रतियोगिता आयोजन के सिलसिले में रिकॉर्डों को पूरा करने के लिए देर रात तक जागने की घटना याद है। धीरे–धीरे मुझे समझ में आया कि मुझे जिम्मेदारी को दूसरों को सौंपना चाहिए, उन्हें आवश्यक संसाधन प्रदान करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि काम पूरा हो! मैंने यह भी सीखा है कि सभी को नए अवसर दिए जाने, भरोसा किए जाने और निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा बनाए जाने की जरूरत होती है। यह काफी कुछ बच्चों को पालने जैसा है! मैं यह भी समझती हूँ कि हर काम स्वयं करने के लिए पर्याप्त समय नहीं होता! मेरे स्वयं के लिए एक बहुत बड़ा सबक (यह काम अभी भी चल रहा है) यह है कि कामों का सूक्ष्म रूप से स्वयं प्रबन्धन

करने की बजाय किनारे खड़े रहकर दूसरों का मार्गदर्शन करना और फिर स्थितियों को सहज रूप से स्वीकार करना सीखना चाहिए।

- **जिम्मेदार होना और अपने तथा सहयोगियों के लिए दिशा निर्धारित करना** : इस भूमिका में व्यक्ति को ऐसे निर्णय लेने पड़ते हैं जो सहयोगी दल को नागवार लग सकते हैं। शुरू में जब नई नीतियों या विचारों को लागू करने का विरोध होता था तो मैं हतोत्साहित अनुभव करती थी। मुझे एक बड़ा संतोष अपने सहयोगियों को दस्तावेजीकरण के महत्व का यकीन दिला पाने का रहा है। शिक्षक समुदाय ढेर सारा काम करता है, पर हम जो करते हैं उसे रिकॉर्ड करना पसन्द नहीं करते।

  अन्य निरन्तर चलने वाली जिम्मेदारियाँ इस बारे में होती हैं कि ऐसी नीतियाँ और योजनाएँ तय करना जो संस्था के हित में हों, अलोकप्रिय निर्णयों को लागू करना, स्टाफ की भरती करना, पालकों और स्टाफ की चिन्ताओं का समाधान करना, दुखद समाचार देना, कुछ विचारों या नीतियों के सिलसिले में जोखिम उठाना।

अपने सहयोगियों के साथ स्पष्ट, खुले और नियमित संवाद ने मुझे उनको समझने में मदद की है और कठिन निर्णयों के कारण उत्पन्न स्थितियों से निपटना ज्यादा आसान बनाया है।

> *एकदम परिपूर्ण होने का प्रयास करना तनावपूर्ण होता है, यह मुझे जल्दी ही पता चल गया! 90–10 के सिद्धान्त (10 प्रतिशत त्रुटि की गुंजाइश रखना) को अपनाने और स्वीकार करने ने जीवन को ज्यादा आसान और आनन्ददायी बना दिया है।*

एकदम परिपूर्ण होने का प्रयास करना तनावपूर्ण होता है, यह मुझे जल्दी ही पता चल गया! 90–10 के सिद्धान्त (10 प्रतिशत त्रुटि की गुंजाइश रखना) को अपनाने और स्वीकार करने ने जीवन को ज्यादा आसान और आनन्ददायी बना दिया है।

तकनीकी आविष्कारों के साथ–साथ चलना

''कक्षाएँ मजेदार होंगी यदि पाठों को रोमांचक बनाया जा सके – काफी कुछ उन खेलों की तरह जो हम कम्प्यूटर या फोन पर खेलते हैं।'' यह टिप्पणी मैंने कई बार सुनी है। इस टिप्पणी से मुझे आरामदायक दायरे से बाहर निकलकर, एम एस ऑफिस का इस्तेमाल सीखने, ताजी जानकारी हासिल करने के लिए इन्टरनैट खँगालने और तकनीकों के सहयोग से सीखने में शिक्षकों का प्रशिक्षक बनने के लिए भी प्रेरित किया। कम्प्यूटर और प्रोजेक्टर का बीच–बीच में प्रयोग करने से निश्चित ही कक्षा में कुछ रोमांच जुड़ जाता है।

तकनीक आज हमारे जीवन के सभी आयामों में फैल गई है। हममें से कुछ उन तमाम नित नए उपकरणों का बहुत आराम से उपयोग करते हैं जो बाजार में आए दिन प्रस्तुत किए जाते हैं। स्कूल में तकनीक के उपयोग को उच्च स्तरीय बनाने में मुझे बहुत खुशी हुई है। जिन क्षेत्रों में हमने ऐसी जरूरतों को पूरा किया है वे हैं :

- कक्षा में तकनीक – कम्प्यूटर, एलसीडी प्रोजेक्टर, कैमरा – ये उपकरण पढ़ाने में उपयोगी सहायता प्रदान करते हैं (हालाँकि ये हमेशा आवश्यक नहीं होते), और हमारे प्रयास में ये जब या जिस तरह मददगार हो सकते हैं उस तरह हम इनका उपयोग कर रहे हैं। सामाजिक या पर्यावरणीय मुद्दों पर बहस शुरू करने के लिए, बिजली के उत्पादन की प्रक्रिया समझने के लिए, जटिल अवधारणाओं को समझने तथा अन्य बहुत कुछ के लिए हम शिक्षाप्रद सीडीज़ या फिल्मों के अंश देखते हैं!

- प्रशासन में तकनीक – स्कूल के रिकॉर्डों का दस्तावेजीकरण : विद्यार्थियों के रिकॉर्ड, अंकों की गणनाएँ, विद्यार्थियों की रिपोर्टों की प्रतिलिपियाँ, स्टाफ के आँकड़े, सभी भागीदारों के साथ ईमेल/एसएमएस के जरिए सम्पर्क में रहना, इत्यादि। तकनीक ने निश्चित ही कागज का उपयोग घटाने में और अनेक वर्षों के रिकॉर्डों को प्रभावी ढंग से संरक्षित रखने में मदद की है।

- बच्चों के द्वारा तकनीक का उपयोग – एक दिन मैं किशोर बच्चों से बात कर रही थी कि किस तरह इन्टरनैट पर जानकारी तलाशने के दौरान अनायास हमारा सामना अश्लील साइटस से हो सकता है। और, तभी एक लड़के ने कहा कि उसने वास्तव में ऐसी साइटस देखीं और फिर वैब ब्राउज़र्स की 'हिस्ट्री' मिटा दी ताकि उसके माता–पिता को पता न चले। तब मुझे अहसास हुआ कि सूचना तकनीक में उपलब्ध अनेक सुविधाओं की जानकारी के मामले में मैं किशोरों से काफी पीछे हूँ।

हर कुछ महीनों में मोबाइल फोनों, आई टचेज़, प्लेस्टेशन्स, स्मार्ट फोनों आदि के नए संस्करण आ जाते हैं। मैंने पाया है कि इनके बारे में सीखने का सबसे अच्छा तरीका बच्चों के साथ इनकी चर्चा करना है। इस तरह मुझे इसकी ताजा जानकारी रहती है कि आज के किशोर क्या कर रहे हैं : चाहे यह उनके द्वारा खेले जा रहे गेम्स हों, मोबाइल फोनों पर उपलब्ध विविध सुविधाएँ हों, या फेसबुक पर घट रही ताजातरीन गतिविधियाँ हों! वास्तव में, मेरे कई सहकर्मी और मैं

यह जानने के लिए फेसबुक पर शामिल हुए कि उस नेटवर्क साइट को बच्चे क्यों इतना आनन्ददायक पाते हैं; इसके परिणामस्वरूप एक सुखद संयोग यह हुआ कि अपने स्कूल और कॉलेज के कई मित्रों से मेरा फिर से सम्पर्क बन गया।

अकसर स्टाफ में और बच्चों के साथ हम इसकी चर्चा करते हैं कि हम किस तरह तकनीक को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं और इस बारे में सचेत रह सकते हैं कि इसके क्या सम्भावित खतरे हो सकते हैं।

वैकल्पिक स्कूल में स्थानान्तरण

मैं वर्तमान में उत्तरी बंगलौर में स्थित एक वैकल्पिक स्कूल *पूर्णा* (www.poorna.in) में काम कर रही हूँ। *पूर्णा* एक घरेलू स्कूल की तरह से शुरू हुआ था। इन्दिरा विजय सिंह ने 1993 में अपने बच्चों को घर पर पढ़ाने का निर्णय लिया। इन्दिरा के कुछ मित्रों ने भी अपने बच्चों को पढ़ाने का उनसे अनुरोध किया और बच्चों को पढ़ाने की जिम्मेदारी उठाने में उनकी मदद भी की। इस तरह *पूर्णा* का जन्म हुआ और आज हमारे पास 100 बच्चे और 20 स्टाफ सदस्य हैं।

पूर्णा में स्थानान्तरण ने मेरे लिए नए अनुभवों के द्वार खोले। मुझे यह अच्छा लगता है कि यहाँ हमारा प्रयास ऐसा समुदाय बनाने का है जो समाज का प्रतिनिधित्व करता हो। साथ ही हम समाज के सभी वर्गों को शामिल करने का सचेत रूप से प्रयास करते हैं। विभिन्न सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमियों के पालकों के बच्चे, सीखने की विशेष अक्षमताओं वाले बच्चे, पहली पीढ़ी के पढ़ने वाले बच्चे और साथ ही ऐसे बच्चे भी जिन्हें कला से लेकर पर्यावरणीय मुद्दों और वैज्ञानिक शोध तक विभिन्न क्षेत्रों को जानने के भरपूर अवसर उपलब्ध रहते हैं। हम शिक्षकगण भी विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते हैं – शिक्षक, किसान, इंजीनियर, कलाकार, वैज्ञानिक – सभी ऐसे लोग जिन्होंने बच्चों के साथ काम करना चुना है। हमारा समुदाय ऐसा है जिसमें बच्चे, पालक और शिक्षक हर समय एक–दूसरे से सीख रहे होते हैं। माता–पिता उनके विशेष ज्ञान वाले क्षेत्रों में स्वेच्छा से हमारी मदद करते हैं; बच्चे पदयात्राओं और भ्रमणों के द्वारा अपने आसपास के संसार के बारे में सीखते हैं।

विभिन्न दृष्टिकोणों से उपजे विचारों के आदान प्रदान ने मेरी समझ को समृद्ध बनाया है। मुझे अपनी प्रातः सभा में सचमुच बहुत मजा आता है जब हम व्यापक दायरे के विषयों, जैसे कि खेलकूद, कला, राजनीति, पर्यावरणीय मुद्दों, सामाजिक अभिप्रायों की चर्चा करते हैं – मुझे महसूस हुआ कि अब मैं विद्यार्थियों की बातें अलग तरह से सुनती हूँ।

ऊर्ध्वाधर समूहीकरण मेरे लिए एक अन्य नई अवधारणा थी – इसमें

> *मैंने पाया है कि सभी से विचार–विमर्श करना और संवाद के सारे रास्ते खुले रखना व्यक्तिगत, पेशेवर और संस्थानिक विकास के लिए बेहद जरूरी है। मुझे खुशी है कि मतभेद या हितों में टकराव की स्थिति उपस्थित होने पर मैंने अपने अहं को एक तरफ रखकर सीधा और खुला संवाद कर पाना सीख लिया है।*

ऊर्ध्वाधर तरीके से बच्चों के समूह बनाए जाते हैं और बच्चों द्वारा चुनी गई किसी थीम के आधार पर उनका नामकरण किया जाता है; ये थीम हर वर्ष बदलती हैं – 2011 के लिए यह संकटग्रस्त प्रजातियाँ हैं, और हमारे समूह बाघ, सफेद गैंडा, लाल पांडा तथा और भी अन्य जीव हैं। ये समूह लचीले होते हैं जिनमें बच्चे अपनी शैक्षणिक और भावनात्मक तैयारी के अनुसार एक समूह से दूसरे में जाते रहते हैं।

हमारे पुराने विद्यार्थी अच्छा काम कर रहे हैं और अपने चुने हुए क्षेत्रों – शैक्षणिक पर्यावरणीय पर्यटन, खेलकूद, ऑटोमोबाइल डिजाइन, ललित कलाएँ, प्रदर्शन कलाएँ, संस्कृति अध्ययन, कार्यक्रम प्रबन्धन, वैकल्पिक चिकित्सा, शिक्षण और शोध – में बेहतरीन प्रदर्शन कर रहे हैं।

किसी अनायास आने वाले व्यक्ति को हम एक विशाल संयुक्त परिवार/समुदाय जैसे दिखाई देते हैं। पर इसमें भी चुनौतियाँ रहती हैं।

- उत्सुक पालक हमसे मिलने आते हैं और कभी–कभी उन्हें भरोसा नहीं होता कि हमारी पद्धति वास्तविक संसार में काम करेगी या नहीं। मैंने पाया है कि उन्हें हमारे पुराने विद्यार्थियों से मिलवाना और हमारे वर्तमान विद्यार्थियों के साथ घुलने–मिलने का अवसर देना उपयोगी रहता है। जो आश्वस्त हो जाते हैं वे अपने बच्चों को हमारे स्कूल में भरती करते हैं। कभी–कभी वे पालक जिन्हें ऐसी व्यवस्था में यकीन था, अचानक शंका करने लगते हैं कि उनका बच्चा स्कूल के सुरक्षित परिवेश से बाहर की दुनिया का सामना कर पाएगा या नहीं। एक बार फिर, हमारे वर्तमान विद्यार्थियों और पुराने विद्यार्थियों के साथ मुलाकात और संवाद से उनको आश्वस्त करने में मदद मिलती है।
- हमारे यहाँ वैकल्पिक पद्धतियों का अनुसरण करने वाले स्कूल अपेक्षाकृत कम हैं, और जो अधिकांश अनुभवी अध्यापक हमारे पास आते हैं उन्होंने ऐसी व्यवस्था में काम नहीं किया होता। यहाँ की अध्ययन–अध्यापन पद्धति को समझने में उन्हें एक या

दो साल लग जाते हैं। हमारी व्यवस्था में किसी के बारे में जानकारी लेने के लिए कोई निर्धारित नियम नहीं है। हालाँकि हम विविधता का स्वागत करते हैं। हमें इस बारे में बहुत सावधान रहना पड़ता है कि जो नए सदस्य हमारे समुदाय में शामिल होते हैं वे हमारी धारणाओं को समझते हों और उनकी धारणाएँ भी समान हों।

- ऐसे बच्चे जो बीच सत्र में हमारे स्कूल में शामिल होते हैं, अचानक अभिव्यक्ति की आजादी पा जाते हैं और उन्हें खुद को एक आन्तरिक अनुशासन के जीवन में लौटने में थोड़ा वक्त लगता है। चूँकि हम दण्ड में यकीन नहीं करते इसलिए यह आम बात है कि नए विद्यार्थी कक्षा के बाद घर के लिए दिया जाने वाला कार्य नहीं करते। इसके लिए हमें उपदेशात्मक हुए बगैर विद्यार्थियों के साथ बहुत चर्चा करना पड़ती है, ताकि वे डर या लादे गए दण्ड के बिना भी नियमित कार्य के महत्व को समझ जाएँ।

पूर्णा में बिताए गए अपने वर्षों के दौरान मैंने विनम्रता सीखी है और अपनी कुछ धारणाओं पर प्रश्न उठाकर उनकी पड़ताल की है : उदाहरण के लिए, बच्चों के साथ एक औपचारिक सम्बन्ध रखना और शिक्षक का दर्जा विद्यार्थियों से ऊपर होना। *पूर्णा* में विद्यार्थी मुक्त भाव से उस बात पर प्रश्न उठाते हैं जिससे वे असहमत होते हैं, वे सीधे–सीधे मुद्दों का सामना करते हैं और द्वन्दों का समाधान करते हैं; और यही बात वयस्कों पर भी लागू होती है। हम असहमत होने के लिए तैयार रहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति से प्रतिक्रिया और सुझावों के प्रति दिमाग खुला रखते हैं। हम अपनी प्रतिक्रियाएँ दूसरों को देने में भी सहज महसूस करते हैं। एक सहकर्मी ने बताया कि उसके पति ने टिप्पणी की कि ''*पूर्णा* में शामिल होने के बाद तुम अपने अधिकार माँगने में सक्षम हो गई हो!''

मैंने पाया है कि सभी से विचार–विमर्श करना और संवाद के सारे रास्ते खुले रखना व्यक्तिगत, पेशेवर और संस्थानिक विकास के लिए बेहद जरूरी है। मुझे खुशी है कि मतभेद या हितों में टकराव की स्थिति उपस्थित होने पर मैंने अपने अहं को एक तरफ रखकर सीधा और खुला संवाद कर पाना सीख लिया है।

मैं निष्कर्ष के रूप में कहना चाहूँगी कि प्राचार्य के रूप में इन अनुभवों ने मुझे विनम्र बनाया है; हालाँकि मुझे अभी भी बहुत कुछ सीखना बाकी है, वहीं मुझे इस बात से प्रसन्नता भी अनुभव होती है कि मैंने अपनी ओर से सर्वश्रेष्ठ करने का प्रयास किया है। आशा करती हूँ कि आने वाले वर्षों में भी सीखना, विकास करना और योगदान करना जारी रहेगा।

रेणु श्रीनिवासन वर्तमान में बंगलौर के वैकल्पिक स्कूल *पूर्णा* की प्रमुख हैं। भारत के विभिन्न भागों में विद्यार्थियों को पढ़ाने और विभिन्न स्कूलों में शिक्षक–प्रशिक्षण में सहयोग देती रही हैं। इस दौरान उन्हें भारत के विभिन्न भागों में स्थित कुछ स्कूलों की समानताओं और भेदों का अवलोकन करने का अवसर मिला है। वे बंगलौर स्थित एक परामर्श केन्द्र में स्वैच्छिक परामर्शदाता भी हैं। उन्हें यात्रा करने और लोगों से मिलने में आनन्द आता है। उनसे renusrinivasan@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

खण्ड द

संसाधन किट

A. Professional Associations

- http://www.aasa.org/ - **American Association of School Administrators**
- http://www.ascd.org/ - **Association for Supervision and Curriculum Development**
- http://www.icponline.org/ - **International Confederation of Principals**
- http://www.naesp.org/- **National Association of Elementary School Principals**
- http://www.nassp.org - **NASSP National Assoc. of Secondary School Principals**
- http://www.iel.org/ - **Institute for Educational Leadership**
- http://www.nea.org/ - **National Education Association**
- http://www.principals.org/ - **National Association of Secondary School Principals**
- http://www.aft.org/ - **American Federation of Teachers**
- http://www.nsba.org/ - **National School Boards Association**
- http://www.icponline.org/ - **International Confederation of Principals**
- http://www.nafsa.org/ - **Association of International Educators**
- http://www.ascl.org.uk/ - **The Association of School and College Leaders** (ASCL) -
- http://www.psba.org/ - **Pennsylvania School Boards Association** (PSBA)

B. Resources

- **The Wallace Foundation** - http://www.wallacefoundation.org/Pages/default.aspx
- **Rand Corporation** - http://www.rand.org/
- **National Academy foundation** - http://naf.org/
- **CASE : Council for Advancement and Support of Education** - http://www.case.org/
- **BISW : British International Schools Worldwide** - http://www.bisw.org/
- **ISQ International Ltd** - http://www.isqi.org.uk/
- **Training and Development Agency for Schools** - http://www.tda.gov.uk/
- **Center for Development and Learning** - http://www.cdl.org/who-we-are/Who%20we%20are.html
- **Stanford Educational Leadership Institute** (SELI) - http://seli.stanford.edu/

C. Web links

- Michael Fullan. The Change Leader. http://www.cdl.org/resource-library/articles/change_ldr.php
- Michael Fullan. The Role of Leadership in the Promotion of Knowledge Management in Schools
- http://www.oecd.org/dataoecd/46/43/2074954.pdf
- David J Kirk and Terry L Jones. Assessment Report on Effective Schools. Pearson Education Inc. July 2004.
- http://www.pearsonassessments.com/NR/rdonlyres/AE0CB466-32E1-4CDD-8B64-11A595251F7A/0/Effective-Schools_Final.pdf
- Dr. K Pushpanadham. Educational Leadership for School based Management. ABAC Journal Vol. 26, No. 1 (January - April, 2006, pp. 41 - 48). http://www.journal.au.edu/abac_journal/2006/jan06/vol26no1_article04.pdf
- Leadership, School Effectiveness and Staff Professional Development: The Case Study of a School in Uganda by Dr. Jaya Earnest, Paper submitted for presentation at the 2004 Annual conference for the Australian Association for Research in Education, Melbourne.
- http://www.aare.edu.au/04pap/ear04330.pdf
- Leadership Matters – leadership capabilities for Education Queensland Principals by Department of Education and Arts, Queensland Government, March 2006. education.qld.gov.au/staff/.../docs/leadershipmatterstechpaper.doc
- Leading Educational Change: Refections on the Practice of Instructional and Transformational Leadership by Philip Hallinger, Cambridge Journal of Education, Vol. 33, No. 3, November 2003 http://www.philiphallinger.com/papers/CCJE%20Instr%20and%20Trans%20Lship%202003.pdf
- Standards for School Leaders by Connecticut State Department of Education, 1999. http://www.sde.ct.gov/sde/lib/sde/PDF/EducatorStandards/standards_for_school_ldrs.pdf
- Statewide Framework for Internship Programs for School Leaders http://www.ade.state.az.us/certifcation/down - loads/StatewideFrameworkStateBoardApproved.pdf
- School Leaders: Changing Roles and Impact on Teacher and School Effectiveness, by Bill Mulford, April 2003. http://www.oecd.org/dataoecd/61/61/2635399.pdf
- Strong Leaders Strong Schools: 2009 State Laws by Sara Shelton. http://www.wallacefoundation.org/Knowledge-Center/KnowledgeTopics/CurrentAreasofFocus/EducationLeadership/Documents/NCSL-Strong-Leaders-Strong-Schools-2009.pdf

D. Books

- Thomas J. Sergiovanni. Strengthening the Heartbeat: Leading and Learning Together in Schools. Jossey-Bass (August 13, 2004)
- Gordon A. Donaldson. Cultivating Leadership in Schools: Connecting People, Purpose, & Practice. Teachers College Press; 2 edition (June 30, 2006)

- Thomas Stapleford. In Dispute: Confict Resolution for School Leaders. AuthorHouse (September 4, 2007)
- Michael Fullan. The Challenge of Change: Start School Improvement Now! Corwin Press; Second Edition (April 9, 2009)
- Dougals B. Reeves. Reframing Teacher Leadership to Improve Your School. ASCD (May 30, 2008)
- Carl D. Glickman. SuperVision and Instructional Leadership: A Developmental Approach (8th Edition). Prentice Hall; 8th edition (March 29, 2009)
- James P. Spillane. Distributed Leadership. (Jossey-Bass Leadership Library in Education) Jossey-Bass (January 30, 2006)
- Robert J. Marzano. School Leadership that Works: From Research to Results.
- Association for Supervision & Curriculum Deve (September 30, 2005)
- Michael Fullan. Leading in a Culture of Change. Jossey-Bass; Revised edition (February 2, 2007)
- Michael Fullan. The New Meaning of Educational Change, Fourth Edition. Teachers College Press; 4 edition (March 9, 2007)
- Terrence E. Deal. Shaping School Culture: Pitfalls, Paradoxes, and Promises. Jossey-Bass; 2 edition (March 3, 2009)
- Building a New Structure for School Leadership. Washington, DC: The Albert Shanker Institute.
- Fink, E. & Resnick, L. (2001). Developing Principals as Instructional Leaders. Phi Delta
- Kappan. V. 82. pp 598-606.
- Goleman, D. Boyatzis, R., McKee, A. (2002). Primal Leadership. Boston, MA: Harvard
- Business School Press.
- Hargreaves, A. (in press). Teaching in the Knowledge Society. New York: Teachers College
- Press.
- The Hay Group, (1999). Excellence in School Leadership. Victoria, Australia: Department of
- Education, Employment & Training.
- Richard F Elmore. Building a New Structure for School Leadership. Albert Shanker Institute, Washington DC, 2000.
- Alma Harris et al. Effective Leadership for School Improvement. London, Routledge: 2003.
- Marianne Coleman. Research Methods in Educational Leadership and Management. London: Sage Publications, 2002.
- Gerald Rupert Grace. School Leadership: Beyond Education Management: An Essay in Policy Scholarship. UK and USA, Falmer Press, 1995.
- Stephen Davis et al. School Leadership Study: Developing Successful Principals. Stanford Educational Leadership Institute (SELI), 2005.
- Thomas J. Sergiovanni. Leadership for the Schoolhouse: How Is It Different? Why Is It Important? Jossey-Bass, 2000.

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की पत्रिका

134, डूड्डाकन्नेल्ली, व्रिपो कॉरपोरेट ऑफिस के बाजू में, सरजापुर रोड, बंगलौर 560 035, भारत
दूरभाष : 91–80–6614900 / 01 / 02 फैक्स : 91–80–66144903 ई–मेल : learningcurve@azimpremjifoundation.org
वेबसाइट : www.azimpremjifoundation.org

Also visit Azim Premji University website at www.azimpremjiuniversity.edu.in